ISSN 0974-8849

दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष 55 अंक 3

जुलाई-सितम्बर-2009

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

अखिल भारतीय दर्शन-परि

पदाधिकारी

अध्यक्ष

प्रो. एस.पी. दुबे

'दर्शन' डी-9, अप्सरा अपार्टमेंट,
6/15-33, दक्षिण सिविल लाइन्स,
जबलपुर-482001,
फोन : 0091-761-2601906, 6535699,
फैक्स : 2601906, मो. : 9229132699
ई-मेल : sp_dubey@rediffmail.com

उपाध्यक्ष

प्रो. जटाशंकर

आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002
फोन : 0532-2465453, मो. : 09415634523

डॉ. आर.के. देसवाल

अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र-136119
फोन : 01744-238708, मो. : 09896477599

डॉ. बी.एन. ओझा

अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग,
बी.डी. इवनिंग कालेज, मीठापुर,
पटना (बिहार)-800001,
फोन : 0612-2250920, मो.:09835221037

महामंत्री

प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा

आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर-470003.
फोन : 07582-264587, मो. : 09406519498

मंत्री

डॉ. (श्रीमती) राजकुमारी सिन्हा

आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग,
रांची विश्वविद्यालय, रांची
(झारखण्ड)-834008
फोन : 0651-2240976, 3112962.
मो. : 9431358326

डॉ. अविनाश कुमार श्रीवास्तव

अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग,
नालंदा महाविद्यालय, बिहार शरीफ,
नालंदा-803101,
मोबाइल : 09334134122

संयुक्त मंत्री

डॉ. कालीचरण पाण्डेय

उपाचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग,
दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर-273009.
फोन : 0551-2200349, मो. : 09451050439
ई-मेल : kcpandey@yahoo.com,
phkc@rediffmail.com

डॉ. चन्द्रशेखर

दर्शनशास्त्र विभाग,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय,
जोधपुर-342001.
फोन : 0291-2752202, 2753202

डॉ. पूर्णेन्दु शेखर

दर्शनशास्त्र विभाग,
तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय,
भागलपुर-812007.
मोबाइल : 9934051857

कोषाध्यक्ष

डॉ. (कु.) गायत्री शर्मा

616 सत्संग भवन मार्ग, मठपारा,
रायपुर-492001 (छत्तीसगढ़)
फोन : 0771-2272644, मो. : 09826630140

प्रधान सम्पादक (दार्शनिक त्रैमासिक)

डॉ. रजनीश कुमार शुक्ल

अध्यक्ष, तुलनात्मक धर्मदर्शन विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी-221002.
फोन : 0542-3090285, मो. : 9415201031.
ई-मेल : rshuklavns@sify.com

ISSN 0974 - 8849

दार्शनिक-त्रैमासिक

वर्ष 55 अंक 3 जुलाई-सितम्बर - 2009

ISSN 0974 - 8849

दार्शनिक-त्रैमासिक

वर्ष 55 अंक 3

जुलाई–सितम्बर – 2009

प्रतियाँ : 300

मूल्य : रु. 100/–

प्रकाशक :

प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा

महामंत्री-अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

आचार्य, दर्शन विभाग,

डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

वितरक :

श्री राजेश केशरवानी

विश्वविद्यालय प्रकाशन

247, जवाहरगंज, सागर (म.प्र.) 470002

मो. 9303282494, 9302376704

www.vishwavidyalayaprakashansagar.blogspot.com

अनुक्रम

सम्पादकीय

इधर कुछ दशकों से दार्शनिक जगत् में आधुनिकता के आक्रामक स्वरूप से संस्कृति की रक्षा करने की चिंता दिखाई पड़ने लगी है। यह स्वाभाविक एवं आवश्यक है। हमें भौतिक विकास एवं आध्यात्मिक अनुभूति दोनों में समन्वय करना होगा। पूर्ण मनुष्यत्व की प्राप्ति तभी हो सकती है। यह एक वैश्विक अपेक्षा है तथा व्यक्तिक अनिवार्यता भी। जब तक हम समस्या को अपना बनाकर नहीं देखेंगे तब तक हमारे लिये समाधान मिलना कठिन होगा। योग एक ऐसी विधा है जिसमें भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही पक्षों के समन्वय और चित्तवृत्ति के निरोध से मोक्ष प्राप्ति की व्यवस्था है। अतः आज के युग में योग की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। प्रसन्नता की बात है कि योग अब वैश्विक रूप लेता जा रहा है और दुनिया के बहुत से लोग इसकी उपयोगिता को समझने लगे हैं।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में शास्त्रीय आलेखों का *दार्शनिक त्रैमासिक* में सदा से महत्व रहा है और आगे भी रहेगा। कुछ बहुत अच्छे आलेख *दार्शनिक* के हाल के अंकों में प्रकाशित हुए हैं। भारतीय चिंतन में सामाजिक समस्याओं के प्रति सजगता भी अनेक आलेखों में परिलक्षित है। शिक्षा की गुणवत्ता, पर्यावरण की शुद्धता, भावी पीढ़ी के लिए अवदान, युवा वर्ग में नैतिकता का बोध, नारी का सशक्तिकरण तथा उपेक्षित वर्ग को प्राथमिकता जैसे प्रसंग उभर कर आये हैं। इस विषयों पर गंभीर चिंतन एवं संकल्प के क्रियान्वयन की आवश्यकता है।

कुछ युवा चिंतकों के आलेख बहुत प्रभावी लगे। *दार्शनिक* के पिछले अंक में भागलपुर के श्री सुधांशु शेखर का आलेख ''नव–बौद्ध धर्म...'' देखकर लगा कि हमारा भविष्य आशा के अनुरूप या आशातीत सार्थक स्वरूप ग्रहण करेगा। *दार्शनिक त्रैमासिक* के इधर के कुछ अंकों में युवा पीढ़ी के आलेखों को अपेक्षित स्थान देने का प्रयास किया गया है। परिषद् को सफलता की राह पर तीव्रगति से चलाने का भार इन्हीं युवकों के मजबूत कंधों पर है। वरिष्टजनों का वरदहस्त इनके साथ तो है ही।

– एस.पी. दुबे

कर्म और पुनर्जन्म

प्रो. गीतारानी अग्रवाल

कर्म और कर्मवाद भारतीय–चिन्तनधारा की एक आधारभूत मान्यता है। भारतीय–दर्शन, भारतीय संस्कृति तथा भारतीय–धर्म कर्मवाद को पृष्ठभूमि के रूप में अनिवार्यरूप से स्वीकार करते हैं। कर्म एवं कर्मवाद भौतिक और अभौतिक, चेतन और अचेतन जगत् के समस्त घटनाओं की व्याख्या कार्य–कारण सिद्धान्त को आधार बनाकर करता है। यह एक ऐसा व्यापक, शाश्वत और अनुलंघ्य नियम है जिसके अधीन समस्त सृष्टि है। देव, मनुष्य, पशु–पक्षी, कोई भी इस नियम से परे नहीं हैं। जहां यह एक ओर विश्व की वैज्ञानिक व्याख्या करता है, वहां दूसरी ओर यह विश्व की नैतिकता के लिये एक व्यापक आधार प्रस्तुत करता है। यह एक सर्वमान्य मत है कि कर्म–श्रृंखला ने संसार–चक्र को प्रवाहित किया है और आगे भी वह इसे प्रवाहित करती रहेगी। कर्म का सिद्धान्त अनिवार्य रूप से पूर्वजन्म की मान्यता को स्वीकार करने के लिये बाध्य करता है। यही कारण है कि भारतीय शास्त्रों में कर्म और पुनर्जन्म का महत्त्व इतना व्यापक हो गया है कि इसे माने बिना किसी प्रकार की व्यवस्था या किसी प्रकार के सिद्धान्त का संगत विवेचन सम्भव नहीं लगता।

कर्मवाद या कर्म का सिद्धान्त :

भारतीय दर्शन, संस्कृति और सामाजिक जीवन में यदि कोई सिद्धान्त सर्वमान्य रूप से स्वीकृत है तो वह है कर्मवाद या कर्म का सिद्धान्त। भारतीय विचारधारा में अनेक प्रकार की दृष्टियां जगत्, ईश्वर एवं आत्मा के सम्बन्ध में उपलब्ध होती हैं किन्तु सभी के मूल में कर्मवाद का सिद्धान्त स्वीकृत है। इसलिये कर्मवाद को समझे बिना भारतीय–दर्शन, भारतीय–संस्कृति और भारतीय–समाज को भलीभांति नहीं समझा जा सकता।

कर्मवाद एक व्यापक सिद्धान्त है। इसकी यह मान्यता है कि समस्त विश्व, ब्रह्माण्ड, व्यक्ति और समाज एक व्यापक शाश्वत एवं अनुलंघ्य नियम में बंधे हुये हैं। यह अनुलंघ्य नियम है कर्म का नियम। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति जो कुछ भी करता है, चाहे वह शुभ करता है या अशुभ उचित करता है या अनुचित,

सबका फल अवश्य होता है और वह फल उस कर्त्ता को भोगना पड़ता है। इतना ही नहीं, इसके अन्तर्गत यह भी स्पष्ट है कि कोई भी कर्त्ता अपने किये हुये कर्मों के फल से न वंचित रह सकता है और न छुटकारा पा सकता है। इसके साथ यह भी मान्यता है कि व्यक्ति जो कुछ भी दुःख या सुख भोगता है वह किसी अन्य का किया हुआ नहीं होता अपितु उसके अपने कर्मों का ही फल या परिणाम होता है।

इस कर्मवाद के विश्लेषण करने पर इसके अन्दर मुख्य तीन पहलू आते हैं– कर्त्ता, क्रिया और फल। अब यहां यह प्रश्न उठता है कि कर्त्ता जब कोई कर्म या क्रिया करता है तो उसकी प्रतिक्रिया अन्य वस्तु या व्यक्ति पर तत्काल ही पड़ जाती है और इसके बाद वह कर्म समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में कर्त्ता को भविष्य में होने वाले फल के साथ उस कर्म के सम्बन्ध की योजना कैसे सम्भव है? क्योंकि यह साधारण–सा नियम है कि कारण के रहने पर ही कार्य होता है और कार्य की उत्पत्ति के पहले कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य का होना सम्भव नहीं है। यदि अपनी तात्कालिक प्रतिक्रिया से अतिरिक्त किसी अन्य फल का कारण भी उक्त क्रिया को माना जाय तो उस फल तक उसको स्थायी मानना होगा। अन्यथा उस फल का वह कारण कैसे माना जा सकेगा? किन्तु यह भी अनुभव–सिद्ध है कि कर्म क्रिया रूप होने के कारण तत्काल ही अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर नष्ट हो जाता है। इस विरोध को बहुत गहराई से भारतीय विचारधारा में समझा गया है और इसको दूर करने के लिये दार्शनिक दृष्टि से इस पर पर्याप्त चिन्तन भी हुआ है।

कर्म और कर्मफल के बीच कार्य–कारण सम्बन्ध को लेकर अनेक प्रकार की स्थापनाएं भारतीय दर्शन में उपलब्ध होती हैं किन्तु यहां हम केवल न्याय दर्शन और मीमांसा दर्शन के दृष्टिकोण का संक्षिप्त विवरण दे रहे हैं। न्याय दर्शन का कहना है कि जब कोई कर्त्ता कोई कर्म या क्रिया करता है तो उससे दो प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। एक प्रतिक्रिया तो अदृष्ट है जो बाहर न उत्पन्न होकर उस कर्त्ता में उत्पन्न होती है। इसे ही अदृष्ट या पुण्य–पाप कहा जाता है। यह कर्त्ता की आत्मा में उत्पन्न होता है और तब तक के लिए विद्यमान रहता है जब तक उसका फल उस कर्त्ता को प्राप्त न हो जाय। अतः कर्म और कर्मफल के बीच कार्य–कारण सम्बन्ध मानने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि कर्म अदृष्ट द्वारा फल का जनक होता है और आत्मा के नित्य होने से अदृष्ट आत्मा में चिरस्थायी रहता है। जब वह अदृष्ट फलोन्मुख होता है, उसका फल उस कर्त्ता को प्राप्त हो जाता है और फल प्राप्त होने के बाद वह अदृष्ट समाप्त हो जाता हैं

इस अदृष्ट की मान्यता के साथ नैयायिकों ने ईश्वर की मान्यता को भी जोड़ दिया है। उनका कहना है कि अदृष्ट स्वयं में एक गुण–विशेष मात्र है, वह फल की व्यवस्था अपने आप करने में समर्थ नहीं है। इसीलिए एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान चेतन तत्व की आवश्यकता है जो समस्त प्राणियों के अदृष्ट को समझकर उसके

अनुसार फल का विधान कर सके और उन कर्मों के करने वाले प्राणियों को फल–प्रदान करने की परिस्थिति तैयार करे तथा उन्हें अपने कर्मों के फल भोगने के लिए बाध्य करे।

इसके विपरीत मीमांसकों का कहना है कि कर्म एक शाश्वत नियम 'चाहिए' या विधि–वाक्य से प्रेरित होकर किये जाते हैं। इन कर्मों से एक अपूर्व उत्पन्न होता है। वह अपूर्व कर्त्ता में उत्पन्न न होकर उस कर्म से होने वाले फल में उत्पन्न होता है। जिस प्रकार खेत जोतने से, दधि मथने से या चावल पकाने से उर्वरक शक्ति खेत में, मक्खन दधि में और विकृति चावल में उत्पन्न होती है, उसी प्रकार समस्त कर्मों का फल उन–उन वस्तुओं में होता है जो उस कर्म के फल होते हैं। कर्म एक शाश्वत नियम होने के कारण अपना अपूर्व उन फलों में उत्पन्न कर देता है। इसके लिये ईश्वर की मान्यता आवश्यक नहीं है। अवसर आने पर वे फल स्वयं ही कर्त्ता को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं और कर्त्ता को वह फल भोगना पड़ता है।

कर्मवाद के सिद्धान्त के अन्तर्गत यह भी स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि यह आवश्यक नहीं कि व्यक्ति जो कुछ कर्म अपने इस जीवन में करता है उन सबका फल उसको उसी जीवन में प्राप्त हो जाय, और जो कुछ भी वह फल सुख या दुःख रूप में इस जीवन में भोगता है उन सब भोगों का कारण कहलाने वाला कर्म केवल इसी जन्म में हो। कर्मवाद का सिद्धान्त अनिवार्य रूप से पूर्वजन्म और उत्तरजन्म या जन्म–मरण के चक्र की स्थापना करता है। समस्त भोगों की व्याख्या इस आधार पर की जाती है कि मनुष्य या प्राणी अपने जीवन में जो सुख या दुःख भोगता है उन सबका कारण इस जन्म के ही कर्म नहीं होते अपितु उसके पूर्व–जन्म के कर्म भी होते हैं। इसलिये कर्मवाद के सिद्धान्त पर यह आरोप नहीं बनता कि जन्म के पूर्व व्यक्ति की स्थिति न होने के कारण उसका कोई कर्म नहीं होता और तब कोई जन्म से अन्धा, लंगड़ा, रोगी कैसे हो जाता है और कोई व्यक्ति जन्म से सम्पन्न या दरिद्र घर में कैसे उत्पन्न हो जाता है ? क्योंकि कर्मवाद केवल इसी जन्म के कर्म पर आधारित सिद्धान्त नहीं है। वह इस जन्म से पूर्व जन्म को भी स्वीकार करता है। कर्मवाद के आधार पर उक्त प्रश्नों के उत्तर सरलता से दिये जा सकते हैं कि जन्म से सुख–दुःख प्राप्त करने वाला व्यक्ति अपने पूर्व–जन्म के कर्मों का फल प्राप्त करता है। उसी प्रकार यह अनुभव–विरोध कि जो व्यक्ति अपने जीवन में अच्छा कर्म करता है, दुःखी रहता है और जो बुरा कर्म करता है वह सुखी रहता है, कर्मवाद के सिद्धान्त में बाधक नहीं बन पाता। क्योंकि कर्मवाद के आधार पर व्याख्या करने वाले यह कहते हैं कि इस समय प्राप्त होने वाला सुख–दुःख पिछले जन्म के किये हुये कर्मों के पाप– पुण्य के फल हैं और इस जन्म में किये जाने वाले शुभ और अशुभ कर्म, जिनका फल इस जन्म में नहीं मिल पाता, अपना फल उत्तर–जन्म में देते हैं।

कर्म सिद्धान्त की कुछ आधारभूत मान्यताएं हैं। इन्हीं आधारभूत मान्यताओं पर कर्मवाद के सिद्धान्त को भलीभांति समझा जा सकता है। इन आधारभूत मान्यताओं का यहां संक्षेप में वर्णन करना विषय की स्पष्टता के लिये आवश्यक प्रतीत होता है। ये विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

1. कर्म केवल भौतिक क्रिया ही नहीं है अपितु इसके अन्तर्गत मानसिक, बौद्धिक, भावात्मक और आध्यात्मिक सभी क्रियाओं का समावेश है। कर्म का सम्बन्ध केवल स्थूल शरीर से नहीं हैं अपितु सूक्ष्म शरीर से भी है। स्थूल पंच–भौतिक शरीर मृत्यु के उपरान्त नष्ट हो जाता है किन्तु सूक्ष्म शरीर कर्मों के समस्त संस्कारों के साथ मृत्यु के उपरान्त भी रहता है, जिसके साथ आत्मा एक योनि से दूसरे योनि में जाकर जन्म ग्रहण करता है।

2. कर्मवाद के अनुसार कर्मों के संस्कार धर्म अथवा अधर्म, पुण्य अथवा पाप, पूर्ण सुरक्षित रहते हैं। न तो किये हुये कर्म का नाश सम्भव है और न अकृत कर्म का अभ्युपगम ही सम्भव है। इसे ही कृतप्रणाश तथा अकृताभ्युपगम कहा जाता है। अर्थात् जब कोई कर्त्ता कर्म करता है तो वह कर्म अपने संस्कार रूप में तब तक बना रहता है जब तक उसका फल उस कर्त्ता को प्राप्त न हो जाय। दूसरी ओर, कर्त्ता को कोई भी ऐसा फल नहीं मिलता जो उसके पूर्व कर्म का परिणाम या फल न हो।

3. कर्मवाद के अनुसार कर्मचक्र अनादि और अनन्त है। इसे चक्र कहने का तात्पर्य यह है कि यह एक वृत्त के रूप में है, जिसमें आदि और अन्त बतलाना या खोजना सम्भव नहीं है। प्राणी अपने पूर्व कर्मों के अनुसार जन्म लेता है, पुनः कर्म करता है और पुनः जन्म लेता है। कर्म, जन्म और भोग का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। इसी को कर्म–विपाक भी कहा जाता है। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि कोई सृष्टि आदि–सृष्टि नहीं और कोई प्रलय अन्तिम प्रलय नहीं। प्रत्येक सृष्टि अपने आप में तो नवीन है किन्तु उसका आधार उसके पूर्व की सृष्टि है। जब ब्रह्मा सृष्टि करना प्रारम्भ करते हैं तो उस सृष्टि में उस सृष्टि से पूर्व वाली सृष्टि के प्राणियों के उन कर्मों को ध्यान में रखते हैं जिनका फल अभी तक उन कर्मों के कर्त्ताओं को प्राप्त नहीं हुआ रहता है। अतः नवीन सृष्टि के प्राणियों की योनि का निर्धारण उनको प्राप्त होने वाले फल की व्यवस्था आदि उनके पूर्व जन्म के कर्म के आधार पर किया जाता है।

4. कर्मवाद के अनुसार कर्म का परिणाम संस्कार के रूप में कर्त्ता के चरित्र, प्रवृत्ति, विचार और भावनाओं पर पड़ता है। यह संस्कार उसके व्यक्तित्त्व का एक अंग बन जाता है। जीवन–पर्यन्त तो यह उसके साथ रहता ही है, मरने के बाद दूसरे जीवन में भी यह उसके साथ जाता है। आज के कर्म का फल कल भोगना पड़ता है और कल के कर्मफल का भोग परसों। इस प्रकार कर्मफल का यह क्रम सदैव चलता रहता है।

5. कुछ विचारकों का मत है कि कर्मवाद के सिद्धान्तों के अनुसार आत्मा की अमरता को स्वीकार करना अनिवार्य है, क्योंकि जब पूर्व जन्म के कर्मों का फल इस जन्म में मिलता है और इस जन्म के कर्मों का फल अगले जन्म में मिलता है तो फल पाने वाले आत्मा का अस्तित्व तीन जन्मों तक अवश्य ही स्वीकार करना होगा। इस प्रकार अनेक पूर्व–जन्म और अनेक उत्तर–जन्म की परम्परा स्वीकार करने में आत्मा को निर्विवाद रूप से नित्य एवं अविनाशी मानना पड़ेगा। किन्तु भारतीय–दर्शन के सम्यक् पर्यालोचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मवाद से अनिवार्य रूप में पुनर्जन्म तो सिद्ध हो सकता है, किन्तु कर्मवाद के आधार पर आत्मा की अमरता अनिवार्य रूप से सिद्ध नहीं हो पाती। हम देखते हैं कि बौद्ध दर्शन में भी कर्मवाद का सिद्धान्त मान्य है और इसके आधार पर पुनर्जन्म को वहां भी स्वीकार किया है। किन्तु बौद्ध लोग आत्मा की अमरता या नित्यता को स्वीकार नहीं करते। इसलिये उन्हें अनात्मवादी कहा जाता है। वे क्षणिक चेतना के प्रवाह को स्वीकार कर कर्मवाद और पुनर्जन्म की व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं।

6. कर्मवाद का सिद्धान्त सामाजिक जीवन और व्यक्तिगत जीवन में विद्यमान अपरिहार्य विषमता और विसंगतियों में रहने वाले मानव को अपने जीवन से संतुष्ट रहने के लिये एक दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है। जीवन की परिस्थितियां समान नहीं हैं। कोई धनी है, कोई गरीब, कोई सुखी, कोई दुःखी। ऐसी स्थिति में मनुष्य में निराशा और हताशा का होना स्वाभाविक है, यदि उसके पास इन विसंगतियों को सुलझाने का कोई ठोस आधार न हो। कर्म का सिद्धान्त एक ठोस दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है जिसके आधार पर यह विश्वास किया जा सकता है कि मनुष्य के वर्तमान जन्म में जो परिस्थितियां हैं वे उसके पूर्वजन्मों के कर्मों के फल के रूप में प्राप्त हुई हैं। उसने जिस वर्ण, जिस व्यवस्था, जिस परिवेश और परिवार में जन्म ग्रहण किया है वे सब उसके प्रारब्ध से ही प्राप्त हुये हैं।

7. कर्मवाद का सिद्धान्त इस आस्था को भी दृढ़ करता है कि मनुष्य अपने कर्मो के फल का भोग या तो स्वर्ग या नरक के रूप में मृत्यु के पश्चात् प्राप्त करता है या पुनर्जन्म में सुख और दुःख के रूप में प्राप्त करता है।

8. कुछ चिन्तकों का यह मत है कि कर्मवाद अनिवार्य रूप से नियतिवाद या भाग्यवाद का समर्थन करता है क्योंकि कर्मवाद के अनुसार मानव–जीवन की सारी विषमताओं की व्याख्या पुनर्जन्म के आधार पर हो जाती है।

अतः यह कहा जा सकता है कि मानव का वर्तमान जीवन पूर्व कर्मों से पूर्णरूप से नियमित और नियन्त्रित है। ऐसी स्थिति में उसे कुछ भी करने की स्वतन्त्रता नहीं है। वह केवल वही कर सकता है जो उसके पूर्व–संस्कार करने के लिये प्रेरित करते हैं। किन्तु गम्भीरता पूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मवाद अनिवार्य रूप से भाग्यवाद या नियतिवाद नहीं है। कुछ अंश तक

उसमें नियतिवाद की झलक अवश्य मिलती है। किन्तु यह नियतिवाद या भाग्यवाद का पूर्ण रूप से समर्थक नहीं है। कर्मवाद का सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि व्यक्ति को जन्म से प्राप्त होने वाले परिवेश, शारीरिक और मानसिक क्षमताएं उसके प्रारब्ध के कारण हैं। इसमें उसका कोई स्वतन्त्र अधिकार नहीं है कि वह इसे बदल सके। जन्म–स्थान, माता–पिता, परिवार, परिवेश आदि ऐसे तथ्य हैं जिसमें उसे चुनाव या परिवर्तन की स्वतन्त्रता नहीं है। फिर भी उसे इनके उपयोग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। उसके संकल्प में इतनी शक्ति और क्षमता है कि वह अपने पुराने संस्कारों को नये कर्मों के द्वारा बदल सकता है, नये संस्कार अर्जित कर सकता है, और अपने भविष्य जीवन को नयी दिशा दे सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्मवाद पुरुषार्थवाद का समर्थन करता है, नियतिवाद या भाग्यवाद का नहीं। किसी भी व्यक्ति को जो कुछ प्राप्त होता है वह उसके कर्मों के फल हैं किन्तु जिन कर्मों का अभी फल नहीं हुआ है उन कर्मों के संस्कार को नये कर्मों के द्वारा दृढ़ संकल्प, संयम, गुरूपदेश आदि से बदला जा सकता है।

पुनर्जन्म और कर्मवाद :

भारतीय धर्मशास्त्रों में कर्मवाद के सिद्धान्त के आधार पर पुनर्जन्म की मान्यता को स्वीकार किया गया है। इसके आधार पर यह माना जाता है कि आवागमन का चक्र अनादिकाल से प्रवर्तमान है। संसार में रहते हुये प्रत्येक व्यक्ति शुभ अथवा अशुभ कर्मों को करने में प्रवृत्त रहता ही है और जब तक कर्म करने में लगा हुआ है, तब तक कर्म–फल अवश्य ही बन्धनकारक होकर पुनर्जन्म के हेतु होंगे। फिर ऐसी कौन सी स्थिति है, जिसमें कर्मफल के बन्धन अथवा आवागमन के चक्र से छुट्टी मिल सकती है? मनुष्य में प्रत्येक कर्म में प्रवृत्त होने से पूर्व कर्म करने की इच्छा उठती है। उसकी पूर्ति करने के लिये मन में संकल्प होता है, जो मनुष्य को कर्म करने में प्रवृत्त कराता है।

जब तक किसी वृक्ष को जड़ से न उखाड़ते हुये उसकी टहनियां, पत्ते, तना आदि काटते रहेंगे, तब तक उसका नष्ट होना संभव नहीं है। वृक्ष को नष्ट करने के लिये उसका समूल उच्छेदन करना ही होगा। यही बात कर्मवाद तथा उसके परिणाम जन्म–मरण एवं पुनर्जन्म आदि के सम्बन्ध में भी लागू होती है। इससे यह स्पष्ट है कि कर्म पुनर्जन्म का कारण है और पुनर्जन्म का सिद्धान्त कर्मवाद से अनिवार्यरूप से निकलता है। जब तक कर्म रहेगा, प्राणी को उसके शुभ–अशुभ फल को भोगने के लिये जन्म–ग्रहण अवश्य करना पड़ेगा।

कर्मवाद और पुनर्जन्म का सिद्धान्त भारतीय दर्शन, जीवन, संस्कृति तथा समस्त शास्त्रों का एक आधारभूत सर्वमान्य सिद्धान्त है। अतः धर्मशास्त्रों में इसकी मान्यता में कोई विशेष बात नहीं। किन्तु हम यह देखते हैं कि भारतीय चिन्तन–धारा में कर्म और पुनर्जनम के सम्बन्ध में जो विवेचन हुये हैं उसे दो वर्गों में रखा जा

सकता है, एक को हम दर्शनशास्त्रीय विवेचन या तार्किक विवेचन कह सकते हैं जिसमें विभिन्न तर्कों के द्वारा कर्मवाद और पुनर्जन्म की युक्ति–युक्त स्थापना करने का प्रयास किया गया है और दूसरे को धर्मशास्त्रीय या विश्वासात्मक विवेचन कहा जा सकता है, जिसमें शास्त्रीय मान्यता तथा विश्वास के आधार पर विभिन्न कर्मों के फल को विभिन्न योनियों में जन्म के रूप में प्रतिपादित किया जाता है।

कर्मवाद और पुनर्जन्म की दर्शनशास्त्रीय व्याख्या विभिन्न तत्त्वशास्त्रीय दृष्टिकोण के आधार पर की गई है। कहने का तात्पर्य यह है कि विभिन्न दर्शनशास्त्रों ने अपने–अपने तत्त्वशास्त्र की तत्त्व सम्बन्धी मान्यता पर आधारित युक्तियों से कर्मवाद और पुनर्जन्म की स्थापना करने का प्रयास किया है। बौद्ध दार्शनिक अपने क्षणभंगवाद, अनात्मवाद और प्रतीत्य–समुत्पाद आदि तत्त्वशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर कर्मवाद और पुनर्जन्म की व्याख्या करते हैं। जैन दार्शनिक जीव और अजीव तत्त्वों में आत्यन्तिक भेद स्वीकार कर कर्म को पौद्गलिक मानते हुये उससे जीव के सम्बन्ध की, आश्रव, भाववन्ध द्रव्यबन्ध, सम्वर, निर्जर, मोक्ष आदि विविध अवस्थाओं के सन्दर्भ में कर्मवाद की तार्किक विवेचना प्रस्तुत करते हैं। आस्तिक दर्शन भी विभिन्न तत्त्वशास्त्रीय मान्यता के आधार पर कर्मवाद और पुनर्जन्म की व्याख्या करते हैं। न्याय–वैशेषिक कर्मवाद और पुनर्जन्म की व्याख्या में अदृष्ट के महत्त्व को स्वीकार कर अनिवार्य रूप से ईश्वर की मान्यता के आधार पर कर्मवाद और पुनर्जन्म को एक तार्किक आधार देते हैं। इनके विपरीत पूर्वमीमांसा सृष्टि की अनादिता स्वीकार कर और वेदों को नित्य आदेश मानकर बिना ईश्वर को माने ही अपूर्व के आधार पर कर्मवाद और पुनर्जन्म की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। सांख्य और योग दर्शन अत्यन्त पृथक् स्वरूपवाले प्रकृति और पुरुष के संयोग से वासना या संस्कार के आधार पर प्रवृत्त होने वाले कर्म की मान्यता से कर्मवाद और पुनर्जन्म को स्पष्ट करना चाहते हैं। अद्वैत दार्शनिक (शंकर आदि) मायावाद के आधार पर पारमार्थिक न होते हुये भी व्यावहारिक जगत् के लिये कर्मवाद और पुनर्जन्म की मान्यता स्वीकार करते हैं। इन दर्शनों में अपनी स्थापना के लिये तर्क और युक्तियों को विशेष महत्व दिया गया है। अतः इन सबको यहां कर्मवाद और पुनर्जन्म के दर्शनशास्त्रीय विवेचन के रूप में स्वीकार किया गया है।

आचार्य, दर्शन विभाग,
म.गां. काशी विद्यापीठ, वाराणसी

तुलनात्मक दर्शन का अवधारणात्मक अभीष्ट

डॉ. अभिमन्यु सिंह

I

भारतीय दर्शन को मोक्ष–शास्त्र कहा जाता है, यह तर्क (बुद्धि) एवं अनुभव को वरीयता न देकर श्रुति, आप्त–वचन और प्रातिभ साक्षात्कार को वरीयता देता है। इसलिए भारतीय दर्शन के बारे में बहुधा यह प्रश्न उठाया जाता है कि इसे दर्शन माना जाये या धर्म। यदि यह दर्शन है तो अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों (परम्पराओं) एवं उनकी संकल्पनाओं के साथ इसके तुलनात्मक अध्ययन की संभावना पर विचार किया जा सकता है और यदि यह धर्म है तो इसका तुलनात्मक अध्ययन तुलनात्मक धर्म के अन्तर्गत ही सम्भव होगा, तुलनात्मक दर्शन के अन्तर्गत नहीं। यदि दर्शन को पूर्णतया अनुभव और बुद्धि (तर्क) पर आधारित अवधारणात्मक संरचना के अर्थ में समझा जाये, जैसा कि बीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य दार्शनिक मानते हैं, तो सपष्टतः भारतीय–दर्शन दर्शन नहीं है और ऐसी स्थिति में तुलनात्मक दर्शन के अन्तर्गत इसके तुलनात्मक अध्ययन की संभावना क्षीण हो जाती है। यदि भारतीय दर्शन पाश्चात्य दर्शनों के अर्थ में अनुभवपरक और पूर्णतया बौद्धिक क्रियाकलाप नहीं है तो फिर यह किस प्रकार के अनुभव एवं बौद्धिक क्रियाकलाप से सम्बन्धित है जिसके आधार पर इसे दर्शन (दार्शनिक चिन्तन) कहा जा सके? यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसका समाधान दर्शन का अर्थ भिन्न प्रकार से लेकर ही हो सकता है। यदि दर्शन को एक विशिष्ट प्रकार के अनुभव पर आधारित विचार अथवा चिन्तन के अर्थ में लिया जाये तो भारतीय दर्शन भी विशिष्ट प्रकार के अनुभव पर आधारित विशिष्ट प्रकार का चिन्तन है और तुलनात्मक दर्शन के अन्तर्गत इसके तुलनात्मक अध्ययन की संभावना बनती है। यह सही है कि भारतीय दर्शन श्रुति, आप्तवचन अथवा प्रातिभ साक्षात्कार की पूर्व–मान्यता पर आधारित है, किन्तु यही पूरा सच नहीं है। भारतीय दर्शन श्रुति, आप्तवचन अथवा प्रातिभ–साक्षात्कार मात्र नहीं है। यदि श्रुति, आप्तवचन अथवा प्रातिभ–साक्षात्कार ही सब कुछ होते तो प्रश्न उठता है कि फिर *ब्रह्म सूत्र* और भाष्य क्यों लिखे गये और सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के चिन्तकों ने अपने–अपने विपुल शास्त्र की संरचना कयों की? स्पष्ट

है कि इनमें श्रुति, आप्तवचन अथवा प्रातिभ–साक्षात्कार से इतर कुछ किया ग या। इनमें श्रुति, आप्तवचन अथवा प्रातिभ–साक्षात्कार द्वारा स्थापित पूर्वमान्यताओं का अनुभव और बुद्धि के स्तर पर विश्लेषणात्मक विवेचन किया गया है। इन्हें दार्शनिक चिन्तन नहीं कहेंगे तो और क्या कहेंगे? भारतीय दर्शन आध्यात्मिक अनुभवों (अनुभूतियों) का बौद्धिक विवेचन एवं विश्लेषण है। पूर्वमान्यतायें तो प्रत्येक दार्शनिक चिन्तन की होती हैं, चाहे वह भारतीय दर्शन हो या पाश्चात्य दर्शन। यहां तक कि पाश्चात्य दार्शनिक जॉन लाक, जो अपने को पूर्ण रूप से अनुभववादी होने का दावा करते हैं, भी इसके अपवाद नहीं। वे ज्ञान को अनुभवजन्य मानते हैं। उनका मानना है कि मानव–मानस प्रारम्भ में निरंक (टेबुला राजा) होता है और अनुभव द्वारा ज्ञान उस पर अंकित होता है। यदि लॉक से यह पूछा जाये कि निरंक मानस का ज्ञान आपको किस अनुभव से होता तो इसका उनके पास कोई उत्तर नहीं होगा, क्योंकि अनुभव तो उसी का होगा जिस पर (अनुभव द्वारा) कुछ अंकित हो। जिस पर कुछ अंकित ही नहीं है उसका अनुभव असम्भव होगा। स्पष्ट है कि लॉक के दर्शन मे निरंक मानस एक अनुभवातीत कल्पित पूर्वमान्यता है और उनका समूचा दार्शनिक चिन्तन इसी पूर्वमान्यता पर आधारित है। उसी प्रकार भारतीय दर्शनों की भी अपनी–अपनी पूर्वमान्यतायें हैं और पूर्वमान्यताओं पर आधारित होने के कारण उनमें तर्क पूर्ण रूप से स्वतंत्र नहीं है। वे बुद्धि के स्वतंत्र क्रिया–कलाप नहीं हैं, वरन् तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यताओं से बंधे हुए हैं और उनके अधीन हैं। दोनों में अन्तर यह है कि पाश्चात्य दर्शनों की पूर्वमान्यतायें छिपी हुयी हैं और भारतीय दर्शन की पूर्वमान्यतायें स्पष्ट एवं प्रकट हैं।

पुनश्च, 'दर्शन' (दृश्+ल्युट्) शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है 'देखना'। 'तत्त्व को देखना'। भारतीय दार्शनिक चिन्तन परम्परा में दर्शन बौद्धिक स्तर पर उसी तत्त्व को दिखाने का प्रयास करता है और धर्म उसे प्राप्त करने का मार्ग बताता है। 'धर्म' शब्द का प्रयोग यहां हम आध्यात्मिक अनुशासन के अर्थ में कर रहे हैं। अतएव 'दर्शन' शब्द के सच्चे अर्थ में भारतीय दर्शन ही दर्शन है। यह ज्ञान के प्रति अनुराग मात्र नहीं है और न एक आकारिक ज्ञान की शाखा मात्र। दर्शन एवं धर्म का द्वैत विशेष रूप से वस्तुओं पर विचार करने की पाश्चात्य दृष्टि पर आधारित है और यदि हम भारतीय दर्शन के बोध के प्रति गंभीर हैं तो हमें इस पाश्चात्य दृष्टि को त्याग देना होगा। वस्तुतः भारतीय दार्शनिक परम्परा में दर्शन और धर्म का द्वैत नहीं है। धर्म जब दर्शन के आलोक में जिया जाता है तो वह आध्यात्मिक अनुशासन बन जाता है। दोनों साथ–साथ चलते हैं। केवल चार्वाक दर्शन ही इसका अपवाद है। दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय उनके लौकिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक (सांस्कृतिक) परिवेश की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।

कोई भी दर्शन पूर्णतया वस्तुनिष्ठ नहीं होता, अन्यथा समूचे विश्व का एक ही दर्शन होता। दर्शन ज्ञान की उन सभी शाखाओं से पृथक् है जो किसी न किसी रूप में पूर्णतया वस्तुनिष्ठ होने का दावा करती हैं। दर्शन का प्रारम्भ सैद्धान्तिक चेतना से होता है। यह एक विशिष्ट प्रकार की अवधारणात्मक संरचना या विमर्शात्मक चिन्तन है। प्रत्येक दर्शन अपनी–अपनी दृष्टि से (मानव) जीवन और जगत् का मूल्यांकन करने का प्रयास करता है। तुलनात्मक दर्शन दर्शनों की तुलनात्मक मीमांसा है। दर्शन एवं तुलनात्मक दर्शन में सम्बन्ध 'भेद में अभेद' का है। तुलनात्मक दर्शन दर्शन से भिन्न भी है और अभिन्न भी। दर्शन 'वहां क्या है' के बारे में एक अन्तर्दृष्टि है और यह प्रथम स्तर का अन्वेषण है। तुलनात्मक दर्शन यह जानना है कि वास्तव में हम क्या कर रहे हैं जब हम दर्शन करते हैं। यह प्रथम स्तर के अन्वेषण में अन्वेषण है और इसलिए यह उच्चतर स्तर का अन्वेषण है। यह तुलनीय दर्शनों की दार्शनिक अन्तर्दृष्टियों के मूलभूत आधारों का अन्वेषण है। तुलनात्मक दर्शन तुलनीय दर्शनों के सत्यों को उद्‌घाटित करता है।

दार्शनिक दृष्टिकोणों के तुलनात्मक अध्ययन की बात उन लोगों को सर्वथा स्वीकार्य होगी जो निकोलाइ हार्टमन (Nicolai Hartmann) तथा अन्य समकालीन तुलनात्मक दर्शन के समर्थकों की तरह यह मानते हैं कि सभी दर्शनों की सदा से, सर्वत्र एक ही प्रकार की शाश्वत समस्यायें रही हैं। पाल डायसन (Paul Deussen) का भी कहना है कि चिन्तनशील जीवों को सर्वत्र एक ही प्रकार के शाश्वत सत्य की गूंज सुनाई पड़ती है। तुलनात्मक दर्शन से ये शाश्वत समस्यायें या सत्य प्रकाशित हो जाती हैं। वैसे तो तुलनात्मक दर्शन दर्शन के क्षेत्र में अपेक्षाकृत नवागन्तुक है, तथापि दार्शनिक विचारधाराओं की संरचना की तार्किक अपेक्षा के रूप में यह उनमें प्रारम्भ से ही अस्पष्ट रूप में अनुस्यूत रहा है। तुलनात्मक दर्शन प्रत्येक दर्शन में पूर्वपक्ष अथवा प्रतिपक्ष के रूप में सन्निहित रहता है या छिपा हुआ रहता है। तुलनात्मक अध्ययन का कार्य है उसे उद्‌घाटित या प्रकाशित करना। मैं यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूं कि किसी दार्शनिक विचारधारा का पूर्व पक्ष (प्रतिपक्ष) खड़ा कर देना अथवा उसका खण्डन–मण्डन करना तुलनात्मक दर्शन नहीं है। सभी प्रकार के तुलनात्मक अध्ययनों में तुलनीयों के बीच समानता और असमानता की बात एक साथ निहित रहती है, किन्तु तुलनीय दर्शनों की समानताओं को एक तरफ तथा असमानताओं को दूसरी तरफ सजा देने मात्र से कोई दर्शन नहीं बनता और तुलनात्मक दर्शन इस रूप का तुलनात्मक अध्ययन नहीं है।

तुलनात्मक दर्शन को तुलनीय दर्शनों में प्रविष्ट होने के साथ–साथ तटस्थ भी होना पड़ता है; क्योंकि बिना प्रविष्ट हुए दर्शनों को ठीक–ठीक (यथारूप) समझा नहीं जा सकता। उनकी पूर्वमान्यतायें क्या हैं? वे बनते कैसे हैं? उनकी अवधारणात्मक

संरचना के मूलभूत आधार क्या हैं? इत्यादि को स्पष्ट करने के लिए उनमें प्रविष्ट होना आवश्यक होता है। और 'तटस्थ होना' संतुलित एवं तुल्य तुलनात्मक अध्ययन के लिए अनिवार्य है। तुलनात्मक दर्शन तुलनीय दर्शनों से पृथक् तीसरे, चौथे या किसी अन्य प्रकार का दर्शन नहीं है, वरन् यह तुलनीय दर्शनों का दर्शन है। यह तुलनीय दर्शनों का विश्लेषण करके उनमें निहित संगतियों, विसंगतियों एवं पूर्वमान्यताओं को उद्घाटित करता है। ऐसा करके वह स्वयं किसी पूर्वमान्यता की स्थापना नहीं करता। यह स्पष्ट करना कि तुलनीय दर्शनों की पूर्वमान्यतायें क्या हैं, स्वयं एक पूर्वमान्यता की स्थापना करना नहीं है। तुलनात्मक दर्शन से तुलनीय दर्शनों पर नवीन प्रकाश पड़ता है और हम उन्हें और (अधिक) स्पष्ट रूप से समझने लगते हैं। तुलनीय दर्शन क्या है? इस प्रश्न का उत्तर तुलनात्मक दर्शन देता है।

तुलनात्मक दर्शन एवं उसकी सम्भावना के विषय में अनेक प्रकार की आपत्तियां उठायी जाती हैं। उनमें से कुछ प्रमुख आपत्तियों पर हमने विचार करने का प्रयास किया है। कुछ विद्वानों का कहना है कि यदि तुलनात्मक दर्शन एक प्रकार का दर्शन है तो इसकी पूर्वमान्यता क्या होगी, इस आपत्ति के सम्बन्ध में हमारा कहना है कि यदि तुलनात्मक दर्शन अन्य तुलनीय दर्शनों के समान स्तर का एक प्रकार का दर्शन होता तो उसकी पूर्वमान्यता होती। तुलनात्मक दर्शन, दर्शन का एक प्रकार नहीं है। अतएव उसकी पूर्वमान्यता होने का प्रश्न ही नहीं उठता। तुलनात्मक दर्शन को शुद्ध विश्लेषण के रूप में समझना चाहिए। तुलनात्मक दर्शन में हम दर्शनों का मूल्यांकन तो करते हैं किन्तु किसी दर्शन की श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयास नहीं करते हैं।

कभी–कभी यह प्रश्न उठाया जाता है कि तुलनात्मक दर्शन को दर्शनों का तुलनात्मक दर्शन माना जाये या परादर्शन? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि तुलनात्मक दर्शन दर्शनों का तुलनात्मक दर्शन एवं परादर्शन दोनों है। अगर दर्शन ही नहीं होगा तो परादर्शन कैसे बनेगा? दर्शनों की तुलना से इसका प्रारम्भ होता है फिर तुलनीय दर्शनों के सत्यों को उद्घाटित कर यह परादर्शन का रूप ग्रहण करता है। वस्तुतः जिस समय हम तुलनात्मक दर्शन कर रहे होते हैं, वह समीक्षात्मक होता है। तुलनात्मक दर्शन की परिणति (परिनिष्पत्ति) परादर्शन के रूप में होती है। दर्शनों के मूल में जाना, खण्डन–मण्डन के पीछे क्या है? इत्यादि तुलनात्मक दर्शन की दिशा है। तुलनात्मक दर्शन के पीछे इसका अपना कोई दृष्टिकोण नहीं होता। तुलनात्मक दर्शन यदि तुलनीय दर्शनों की गहराई में जाकर उनका गहन विश्लेषण नहीं करता है तो वह व्यर्थ है।

तुलनात्मक दर्शन के सम्बन्ध में एक मौलिक प्रश्न उठाया जाता है कि हम तुलना क्यों करें? इस प्रश्न के सम्बन्ध में हमारा मानना है कि तुलना से बचा नहीं जा सकता। तुलना बुद्धि के स्वभाव में निहित है। बुद्धि की प्रकृति ही ऐसी है कि

वह हमेशा सापेक्षिक अवधारणाओं की संरचना करती है। किसी दर्शन की संरचना एकल रूप से नहीं हो सकती। उसकी संरचना के लिए किसी अन्य दृष्टि या दृष्टियों के समग्र परिप्रेक्ष्य की पूर्वापेक्षा रहती है। प्रत्येक दर्शन एक तरह से तुलनात्मक दर्शन से ही शुरू करता है। वह अन्य दर्शनों से अपनी पृथकता स्थापित करता है, उनके विचारों से सीखता है और कभी–कभी अन्य दर्शनों के प्रभाव में अपने दार्शनिक विचारों का परिष्कार भी करता है। इस अर्थ में प्रत्येक दर्शन तुलनात्मक दर्शन है। किन्तु इससे यह नहीं समझा जाना चाहिए कि दर्शन एवं तुलनात्मक दर्शन में कोई अन्तर ही नहीं है। प्रत्येक दर्शन में पूर्वपक्ष (प्रतिपक्ष) की स्थापना और उसका खण्डन प्राप्त होता है। वह खण्डन अन्य दार्शनिक विचारधाराओं से (अपनी) पृथकता स्थापित करके अपना एक अलग दर्शन खड़ा करने के उद्देश्य से किया जाता है। किन्तु तुलनात्मक दर्शन में जब तुलनीय दर्शनों की समीक्षा, उनका गहन विवेचन एवं विश्लेषण किया जाता है तो वहां उसका उद्देश्य एक अलग दर्शन खड़ा करना नहीं होता है। दर्शन निषेधों से संरचित होता है और निषेधों से संरचित होने के कारण इसकी दृष्टि संकुचित होती है। तुलनात्मक दर्शन दर्शनों का दर्शन होने के कारण व्यापक होता है। अतएव तुलनात्मक दर्शन विशेष–विशेष दर्शनों से भिन्न है।

एक प्रश्न तुलनात्मक दर्शन के स्वतंत्र दर्शन होने के सम्बन्ध में उठाया जाता है। प्रश्न किया जाता है कि क्या तुलनात्मक दर्शन एक स्वतंत्र, पृथक् विशिष्ट प्रकार का दर्शन है? यदि हां तो इसकी ज्ञानमीमांसीय स्थिति क्या होगी? इसकी दार्शनिक विशेषतायें क्या होंगी और दार्शनिक क्रिया–कलापों में इसका स्थान क्या होगा? इन प्रश्नों के उत्तर में हमारा कहना है कि तुलनात्मक दर्शन स्वतंत्र दर्शन नहीं है। यह दर्शन का एक प्रकार नहीं है। यह परादर्शन है। तुलनीय दर्शनों की तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा तथा मूल मान्यताओं को यह तटस्थ भाव से देखेगा, उन्हें स्वीकार अथवा अस्वीकार नहीं करेगा। उनका गहन विवेचन एवं विश्लेषण करके उनके सत्यों को उद्घाटित करना ही इसका कार्य है। यहां पर आपत्ति की जा सकती है कि यदि तुलनात्मक दर्शन के क्षेत्र में चिन्तन का कार्य दर्शनों का गहन विवेचन एवं विश्लेषण करके उनके सत्यों को प्रकाशित करना है तो इसमें तुलना कहां हुयी? और यदि इसमें तुलना नहीं हुयी तो इसे तुलनात्मक दर्शन कैसे कहा जा सकता है? इस प्रश्न के सम्बन्ध में हमारा कहना है कि यह 'तुलना' ही है जो यह स्पष्ट करती है कि सभी दार्शनिक दृष्टियां सत्य का अन्वेषण करती हैं। और अगर सत्य एक ही है तो ये दृष्टिगत भेद क्यों हैं? 'दृष्टिगत भेद होना' यह स्पष्ट करता है कि दार्शनिक दृष्टियां सत्य को पकड़ने में असमर्थ हैं। सत्य उनकी पहुंच से परे है। वैसे तो सभी दार्शनिक दृष्टियां अपनी–अपनी दृष्टि से समान रूप से सत्य हैं किन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो यह तुलनात्मक दर्शन ही है जो

यह स्पष्ट करता है कि सत्य के बारे में सभी दार्शनिक दृष्टियां समान रूप से मिथ्या हैं। मेरे विचार से तुलनात्मक दर्शन के अन्तर्गत तुलनात्मक अध्ययन (चिन्तन) दो स्तरों पर होता है। प्रथम स्तर पर तुलनात्मक अध्ययन दर्शनों की मान्यताओं, उनकी संकल्पनाओं इत्यादि का विवेचन एवं विश्लेषण करके उनके सत्यों को उद्घाटित करता है। तुलनात्मक अध्ययन का यह रूप अत्यधिक प्रचलित है। द्वितीय स्तर पर दर्शन मात्र तुलनात्मक दर्शन का विषय बनता है। दर्शन बनते अथवा बनाये क्यों जाते हैं? दर्शन क्या है? इस स्तर पर उपरोक्त प्रश्नों का उत्तर ढूंढ़ने की प्रक्रिया में तुलनात्मक अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि दर्शन आत्मपूर्ति अथवा आत्माभिव्यक्तियां हैं। तुलनात्मक दर्शन यह स्पष्ट करता है कि सभी दर्शन आत्म–दर्शन है।

III

तुलनात्मक दर्शन का उद्देश्य – तुलनात्मक दर्शन के उद्देश्य का निर्धारण आवश्यक है क्योंकि जब तक इसका उद्देश्य निर्धारित नहीं होगा तब तक यह एक निश्चित रूप को ग्रहण नहीं कर सकेगा। पी.टी. राजू का कहना है कि "जीवन की किन समस्याओं का समाधान विभिन्न परम्पराओं द्वारा किन रूपों में किया गया है, जीवन का कौन (सा) मौलिक पक्ष किन तरह की दार्शनिक समस्याओं को जन्म देता है और उनका किस प्रकार का समाधान प्रस्तुत करता है, इनका अन्वेषण करना तुलनात्मक दर्शन का उद्देश्य है।"[1] उनका मानना है कि "बौद्धिक जिज्ञासा तुलनात्मक दर्शन का चरम उद्देश्य नहीं है"।[2] इसका उद्देश्य मानव, मानव–जीवन के मूल्यों तथा मानव–जीवन के प्रति आदर भाव, जो कि सभी दार्शनिक परम्पराओं में समान रूप से निहित है, को ध्यान मे रखते हुए एक विश्व–दृष्टि विकसित करना है। जो पश्चिम के लोगों के लिए सत्य और शुभ है वह पूरब के लोगों के लिए भी सत्य और शुभ है और जो पूरब के लोगों के लिए सत्य और शुभ है वह पश्चिम के लोगों के लिए सत्य और शुभ है।[3] यदि मानव–जीवन हर जगह तत्त्वतः समान है, और यदि जीवन के सभी मूल्य सभी मानवों के लिए समान रूप से अभिगम्य हैं या अभिगम्य कराने हैं तो प्रत्येक संस्कृति ऐसे दर्शनों को विकसित करेगी जो विचार, दृष्टिकोण और उद्देश्य में मौलिक समानता धारण करते हैं। तुलनात्मक दर्शन का उद्देश्य एक ऐसा सांस्कृतिक समन्वय है, जो किसी संस्कृति का वर्चस्व नहीं वरन् विकास, उसका आरोपण नहीं वरन् आत्मसाक्षात्करण, दृष्टिकोण का संकुचितीकरण नहीं वरन् व्यापकीरण और जीवन का परिसीमन नहीं वरन् उसके विस्तारण को प्रतिपन्न करता है।[4] तुलनात्मक दर्शन का काम सभी (दार्शनिक) परम्पराओं को एक साथ लाना (है) और उनकी समस्याओं का सुस्पष्ट रूप में अध्ययन करना है। सिर्फ तभी समन्वय उपयोगी होगा।[5] मानव तथा मानव–जीवन (के मूल्यों) को विश्व–परिप्रेक्ष्य में देखने की

आवश्यकता है। तुलनात्मक दर्शन का काम एक मौलिक समग्र दृष्टिकोण को पुनर्जीवित करना है।[6] ध्यातव्य है कि पी.टी. राजू संस्कृतियों एवं उनमें पनपी दार्शनिक परम्पराओं के बीच समन्वय की बात करते हैं जो समीचीन नहीं है। तुलनात्मक दर्शन का उद्देश्य संस्कृतियों एवं दार्शनिक परम्पराओं का समन्वय करना नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से उनका पृथक् अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। अगर संस्कृतियों एवं दार्शनिक परम्पराओं का अन्तर्भाव एक विश्व दृष्टिकोण में कर दिया जायेगा तो दर्शन ही समाप्त हो जायेंगे। फिर तुलनात्म्क दर्शन किसका तुलनात्मक अध्ययन करेगा? परिणामस्वरूप तुलनात्मक दर्शन स्वनिर्धारित मृत्यु को प्राप्त करेगा। तुलनात्मक दर्शन उस पद्धति को स्वीकार नहीं कर सकता जो तुलनीय दार्शनिक दृष्टियों का अपचयन एक दृष्टि में कर देती है। तुलनात्मक दर्शन का कार्य किसी दर्शन को मिटाना नहीं है। इसके अलावा संस्कृतियों एवं दार्शनिक परम्पराओं के बीच समन्वय की समस्या एक गम्भीर समस्या है। भारतीय दर्शन, एकाध अपवादों को छोड़कर, मूलतः आध्यात्मिक है। यह मोक्षमार्ग (शास्त्र) है। भारतीय दार्शनिक मोक्ष के प्रति इतने उत्सुक हैं कि वे हमेशा शरीर से अलग होने की बात करते हैं। आत्मा शरीर से भिन्न है, आत्मा और शरीर का सम्बन्ध आन्तरिक न होकर बाह्य होता है, इसके लिए वे तर्क प्रस्तुत करने में ही संलग्न रहे हैं। वे यह भूल जाते हैं कि यह शरीरीजीव के अनुभवों का विस्तृत विश्लेषण कम ही प्राप्त होता है।[7] डॉ. के.सी. भट्टाचार्य और तन्त्र दर्शन इसके अपवाद हैं। बीसवीं सदी का पाश्चात्य दर्शन मुख्य रूप से तर्क एवं अनुभव पर आधारित है। भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों के धरातल भिन्न–भिन्न हैं। इनके बीच समन्वय स्थापित करने का कोई भी प्रयास अन्ततः असफल ही सिद्ध होगा। यदि यह मान भी लिया जाये कि दार्शनिक सम्प्रदायों (परम्पराओं) के बीच समन्वय सम्भव है और इससे तुलनीय दर्शनों का लोप भी नहीं होगा तो इससे लाभ क्या होगा? सिर्फ यही की एक दर्शन और खड़ा हो जायेगा और वह भी एक दृष्टि (मात्र) बनकर रह जायेगा। काण्ट और हेगेल द्वारा किये गये प्रयास इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। मेरा मानना है कि तुलनात्मक दर्शन के बारे में दो प्रकार की भ्रान्तियों से बचना चाहिए– (1) दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय किसी दर्शन की श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास नहीं करना चाहिए, क्योंकि इसके लिये न तो तुलनात्मक दर्शन के पीछे कोई दृष्टिकोण होता है और न कोई मापदण्ड और तुलनात्मक दर्शन का न तो यह कार्य है और न ही उद्देश्य। सभी तुलनीय दर्शन समान रूप से दार्शनिक दृष्टिकोण हैं और समान रूप से महत्त्वपूर्ण। (2) और न सभी दर्शनों से थोड़ा–थोड़ा लेकर एक पृथक् दर्शन खड़ा करना चाहिए। इसका काम तुलनीय दर्शनों का निष्पक्ष (तटस्थ) विवेचन एवं विश्लेषण है। दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन की प्रक्रिया में हम पहले उनका विस्तार देखते हैं फिर धीरे–धीरे गहराई में जाकर उनके मर्म को समझने

(जानने) का प्रयास करते हैं। खण्डन–मण्डन के पीछे छिपी मूलभूत मान्यताओं (पूर्व मान्यताओं) को उद्घाटित कर उनके (बीच) विवादों को सुलझाते हैं। अतएव तुलनात्मक दर्शन का उद्देश्य दार्शनिक विवादों को सुलझाना है; उनका समाधान प्रस्तुत करना है।

यदि यह कहा जाये कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास ने पूरी दुनियां को एक देश में तब्दील कर दिया है और ऐसी स्थिति में विश्व की सभ्यताओं, संस्कृतियों एवं दार्शनिक परम्पराओं का तुलनात्मक अध्ययन द्वारा ही सम्यक् बोध प्राप्त किया जा सकता है, इसलिए विश्व की सभ्यताओं, संस्कृतियों एवं दार्शनिक परम्पराओं का सम्यक् बोध (प्राप्त) कराना ही तुलनात्मक दर्शन का उद्देश्य है; किन्तु यह बात भी उपयुक्त नहीं, क्योंकि उनका अलग–अलग अध्ययन करके भी उन्हें सम्यक् रूप से जाना जा सकता है।

IV

तुलनात्मक दर्शन में दार्शनिक सम्प्रदायों (परम्पराओं) और उनकी संकल्पनाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। इस प्रसंग में यह प्रश्न उठता है कि क्या हम किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय (परम्परा) की तुलना किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय (परम्परा) से कर सकते हैं? क्या हम तुलनात्मक दर्शन की विषय–वस्तु का चयन करने के लिए पूर्णतया स्वतंत्र हैं? हमारा मानना है कि किसी भी दर्शन की तुलना किसी भी दर्शन के साथ नहीं की जा सकती। तुलनात्मक दर्शन की विषय–वस्तु का चयन हमारी स्वतंत्र इच्छा पर निर्भर नहीं करता है। हम क्यों न्यायशास्त्र की तुलना कामशास्त्र से नहीं करते? हम न्यायशास्त्र की तुलना के लिए बौद्ध–दर्शन या मीमांसा–दर्शन का ही बहुधा चयन क्यों करते हैं? हम क्यों बौद्धों के आभिधर्मिक सम्प्रदाय के कारणता सम्बन्धी विश्लेषण की तुलना अरस्तू के कारणता सम्बन्धी विश्लेषण से न करके ह्यूम के कारणता संबंधी विश्लेषण से करते हैं? यहां तक कि जब एक दर्शन किसी अन्य दर्शन को पूर्वपक्ष अथवा प्रतिपक्ष के रूप में रखता है तो यह सिर्फ इसलिए की वह दर्शन किसी न किसी रूप में कहीं न कहीं से उसे छू रहा है। उसे लगता है कि वह भी वही कर रहा है जो वह स्वयं कर रहा है, भले ही उसकी दृष्टि भिन्न क्यों न हो। यदि किसी दर्शन का पूर्वपक्ष या प्रतिपक्ष नहीं है तो एक कल्पित प्रतिपक्ष खड़ा कर लिया जाता है। अतएव तुलना की भी कुछ मूलभूत मांगें होती हैं जिनको पूरा करना अनिवार्य होता है। यदि दो दर्शनों में निहित संकल्पनायें भिन्नार्थक हैं तो वे दोनों अ–तुलनीय हो जायेंगी। और यदि वे तुलनीय हैं तो इसका तात्पर्य है कि वे एकार्थक विशिष्टताओं से युक्त हैं। अब प्रश्न उठता है कि दर्शनों की संकल्पनाओं का भिन्नार्थक अथवा एकार्थक होना किस पर निर्भर करता है? इसका निर्धारण दर्शनों की सत्तामीमांसीय मान्यता द्वारा होता है अथवा ज्ञानमीमांसीय पूर्वधारणा द्वारा। इस प्रश्न के उत्तर में एक स्वाभाविक

सलाह यह दी जाती है कि दर्शनों एवं उनकी संकल्पनाओं का भिन्नार्थक अथवा एकार्थक होना उनकी सत्तामीमांसीय पूर्व–मान्यता पर निर्भर करता है। यदि दो दर्शनों की सत्तामीमांसायें भिन्न–भिन्न हैं तो उनके बीच तुलना नहीं हो सकती और यदि वे समान एकार्थक विशिष्टताओं से युक्त हैं तो वे तुलनीय हैं। यहां एकार्थक विशिष्टताओं से युक्त होने का आशय यह नहीं है कि तुलनीयों के बीच हर पहलू में समानता होनी चाहिए। धरातलगत साम्य होने के अलावा उनमें असमानतायें भी हो सकती हैं। जब तक तुलनात्मक अध्ययन के सन्दर्भ में उपरोक्त बातों को प्राथमिकता नहीं प्रदान की जायेगी तब तक हम यह नहीं जान पायेंगे कि हम वास्तव में तुलना कर रहे हैं या तुलना को सिर्फ टटोल रहे हैं। प्रचलित अर्थ में तुलनात्मक दर्शन विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों (परम्पराओं) में निहित सर्वसामान्य बिन्दुओं का सुस्पष्ट विश्लेषण है।

अस्तु, तुलनात्मक दर्शन का कार्य किसी ऐसी मौलिक सामान्य अवधारणा का निर्माण करना नहीं है जो विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों (परम्पराओं) पर समान रूप से लागू होती हैं और अन्ततः उनके बीच समन्वय का आधार बनती हैं। तुलनात्मक दर्शन के क्षेत्र में चिन्तन का कार्य सिर्फ दो भिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों (परम्पराओं) के मध्य वैचारिक साम्य और बिन्दुओं के अन्वेषण तक सीमित नहीं है और न तो इसका कार्य दार्शनिक सम्प्रदायों (परम्पराओं) के अभिप्रायों के अन्वेषण तक ही सीमित है। इनसे परे तुलनात्मक दर्शन में चिन्तन का कार्य विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों (परम्पराओं) में निहित प्रच्छन्न सत्यों को प्रकाशित करना और स्पष्ट करना है।

दर्शन एवं धर्म विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

संदर्भ

1. *राजू पी.टी., इन्ट्रोडक्शन टु कम्परेटिव फिलॉसफी, पृ. 291, मोतीलाल बनारसीदास, प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1992.*
2. *वही, पृ. 292.*
3. *वही, पृ. 293–295.*
4. *वही, पृ. 288.*
5. *वही, पृ. 291.*
6. *वही, पृ. 297.*
7. *चटर्जी ए.के., मेटाफिजिक्स, सबजेक्टिविटी एण्ड मिथ पृ. 25, द इण्डियन फिलासाफिकल कांग्रेस, पैंतालिसवां सेशन, उस्मानिया यूनिवर्सिटी, हैदराबाद, 1971, प्रेसीडेन्सियल ऐड्रेस, मेटाफिजिक्स एण्ड एपिस्टीमालजी सेक्शन।*

मनुष्य के चरित्र-निर्माण में योग की भूमिका

डॉ. श्यामल किशोर

I

प्रायः दर्शनशास्त्र के विषय में सामान्य अवधारणा है कि इसके अन्तर्गत ईश्वर, आत्मा, विश्व की सृष्टि आदि तत्त्वमीमांसीय समस्याओं के विषय में अध्ययन किया जाता है, जिनका मनुष्य के व्यावहारिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। जनसाधारण में प्रचलित इसी भ्रामक धारणा ने दर्शनशास्त्र जैसे गंभीर तथा मानव–जीवन का मार्ग–दर्शन करनेवाले उपयोगी विषय को अलोकप्रिय बना दिया । इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि दर्शनशास्त्र कुछ मूल तत्त्वमीमांसीय समस्याओं पर विचार करता है, किन्तु इन समस्याओं के अतिरिक्त वह अनेक ऐसी समस्याओं पर भी विचार करता है जिनका व्यावहारिक जीवन के साथ प्रत्यक्ष संबंध है, यथा सुख, आनंद, सौंदर्य, आचरण, चरित्र। जीवन का अंतिम लक्ष्य से संबंधित कुछ ऐसी मूल समस्याएँ हैं, जिनका संबंध मनुष्य के जीवन से है और इन समस्याओं का संतोषप्रद समाधान करने के लिए दर्शनशास्त्र ही समुचित मार्गदर्शन कर सकता है। अर्थात् भारत में दर्शन जीवन का अभिन्न अंग है। प्रो. एम. हिरियन्ना ने ठीक ही कहा है कि, "दर्शन सिर्फ सोचने की पद्धति न होकर जीवन–पद्धति है।"[1] दर्शनशास्त्र का दीर्घकालीन इतिहास इस बात का प्रमाण है कि अनेक भारतीय दार्शनिकों ने मानव–जीवन की इन व्यावहारिक समस्याओं पर गंभीरता पूर्वक विचार किया है।

वर्तमान युग अभूतपूर्व वैज्ञानिक उपलब्धियों एवं अपार भौतिक सम्पदा का युग है, फिर भी व्यक्ति का जीवन एक विचित्र बेचैनी, भय, असंतोष, घृणा, तनाव और कभी न तृप्त होने वाली तृष्णा की कहानी है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाकर हमने उल्लेखनीय भौतिक प्रगति कर ली है, फिर भी एक व्यक्ति से लेकर समाज व पूरा राष्ट्र इस वैश्विक माहौल में बीमार–सा कराह रहा है। राजनीति, परिवार, समाज, राज्य, संस्थाएँ, मानवीय–चेतना, संवेदना, संबंध, मूल्य आदि संकट के दौर से गुजर रहे हैं। समाज व सम्पूर्ण विश्व के सम्मुख मूल समस्या नैतिक मूल्यों के

संकट की है, जिसका समाधान दर्शन के पास है। इसलिए नैतिक मूल्यों के संकट से निवारण हेतु चिन्तन एवं विचार आवश्यक है। चरित्र–निर्माण के द्वारा ही नैतिक मूल्यों के संकट से छुटकारा संभव है। योग–दर्शन के प्रणेता महर्षि पतंजलि अपने अष्टांग–योग में मनुष्य के चरित्र–निर्माण, मानसिक व शारीरिक सुख तथा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति जैसी व्यावहारिक समस्याओं का सफल समाधान प्रस्तुत किये हैं।

II

चरित्र–निर्माण के विषय में योग–दर्शन का मत प्रस्तुत करने के पूर्व यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि चरित्र–निर्माण का अर्थ क्या है? जब हम किसी व्यक्ति के चरित्र की चर्चा करते हैं, तो सामान्यतः उससे हमारा तात्पर्य उसके अच्छे–बुरे विचारों, मूल्यों तथा उनकी अच्छी–बुरी आदतों और उनके उचित अनुचित कर्मों से होता है। चरित्र के इस सामान्य अर्थ को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि चरित्र मनुष्य का वह आन्तरिक पक्ष है जिसकी अभिव्यक्ति उसके आचरण में होती है। इसी कारण आचरण को चरित्र की बाह्य अभिव्यक्ति माना जा सकता है। व्यवहार या आचरण चरित्र का प्रकाशक है तथा चरित्र व्यक्तित्व का प्रकाशक। व्यक्तित्व से आत्मज्ञान, आत्मचेतना एवं आत्मनियंत्रण का बोध होता है। अर्थात् चरित्र एक विशिष्ट प्रकार की संकल्पनात्मक क्रिया–निर्मित पद्धति है। चरित्र की अनेकानेक प्रवृत्तियों को हम 'विशेषक' कह सकते हैं। ये विशेषक हैं– साहस, करुणा, कृतज्ञता, अहिंसा, मैत्री, द्वेष, ईमानदारी, सत्यनिष्ठा, न्यायप्रियता, दयालुता, कर्त्तव्यपरायणता, परहितेच्छा, कायरता, घृणा आदि। ये विशेषक अर्जित प्रवृत्तियाँ हैं जो व्यक्ति की जन्मजात प्रकृति एवं भौतिक तथा सामाजिक वातावरण की अंतर्क्रिया के कारण संभव होती हैं। हमारे कर्मों के लिए ये प्रवृत्तियाँ अभिप्रेरक की भूमिका अदा कर सकती हैं। अतः नैतिकता के क्षेत्र में इनका बहुत महत्त्व होता है। नैतिक दृष्टि से जो प्रवृत्ति अच्छी होती है वह सद्‌गुण कहलाती है तथा जो बुरी होती है वह दुर्गुण। चरित्र के विशेषक नैतिक दृष्टि से सद्‌गुणपरक हो सकते हैं तथा दुर्गुण–परक भी । जैसे 'साहस' विशेषक सद्‌गुण तथा दुर्गुण दोनों हो सकते हैं। साहस के द्वारा वह किसी व्यक्ति की रक्षा कर सकता है तथा साहस के द्वारा बल पाकर एक निर्दोष व्यक्ति की हत्या भी कर सकता है। एक आदर्श समाज स्थापित तभी हो सकता है, जब उसमें रहने वाले व्यक्ति सद्‌गुणी हों। आज के बच्चे ही कल के भविष्य हैं। अगर वे ही भ्रष्ट, चरित्रहीन एवं अकर्मण्य हो जाएँ तो देश का भविष्य अंधकारपूर्ण ही होगा। किसी भी समाज व देश की उन्नति वहाँ के चरित्रवान व्यक्तियों पर निर्भर करती है । गाँधी जी ने कहा था कि, "चरित्र ही मानवता की सर्वोत्तम पूँजी है।"[2] कोई भी समाज व देश महान् या

अच्छा इसलिए होता है कि उसके नागरिक चरित्रवान होते हैं। भारतीय संस्कृति में चरित्र–निर्माण पर बल दिया गया है। मनुष्य के चरित्र निर्माण में योग–दर्शन के यम एवं नियम, बौद्ध–दर्शन के पंचशील, जैन के पंचमहाव्रत की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। योग–दर्शन में व्यक्ति के सम्यक् चरित्र के लिए यम एवं नियम का पालन आवश्यक बतलाया गया है। यम निषेधात्मक सद्‌गुण है जबकि नियम भावात्मक सद्‌गुण है।

III

चरित्र–निर्माण के अर्थ के स्पष्टीकरण के बाद योग का स्वरूप, उद्देश्य एवं पद्धति की चर्चा आवश्यक है। उसके बाद ही चरित्र–निर्माण में योग की भूमिका पर विचार करना संभव है। प्रायः भारतीय दार्शनिकों ने योग के महत्त्व को स्वीकार किया है और अपने दर्शन में उचित स्थान प्रदान किया है। भारतीय विद्याओं में योग–विद्या एक अमूल्य निधि है। यह विद्या संतुलित एवं सुव्यवस्थित जीवन जीने की कला है। योग नैतिकता, धर्म, अध्यात्म, मानवता एवं विज्ञान की प्रत्येक कसौटी पर खरा उतरा है। पतंजलि द्वारा लिखित *योग–सूत्र* चार अध्यायों में अथवा पादों में बाँटा गया है, जो निम्न हैं– समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद एवं कैवल्यपाद। पहले अध्याय समाधिपाद में योग की परिभाषा, उसके स्वरूप, उद्देश्य, चित्त–निरोध के विभिन्न उपाय एवं योग–क्रियाओं के विभिन्न प्रकारों की व्याख्या की गई है। दूसरे अध्याय साधनपाद में चित्त की स्थिरता के लिए आन्तरिक एवं बाह्य साधनों का वर्णन किया गया है। आन्तरिक साधनों के भीतर धारणा, ध्यान एवं समाधि की विशेष चर्चा है। बाह्य साधनों के भीतर यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार की व्याख्या की गई है। तीसरे अध्याय विभूतिपाद में आन्तरिक साधनों के साथ–साथ योगाभ्यास की सिद्धियों का भी वर्णन है। चौथे अध्याय में कैवल्यपाद में मुख्य रूप से कैवल्य या मोक्ष के स्वरूप का पूर्ण रूप से वर्णन है। योग–दर्शन में योग का अर्थ 'चित्तवृत्ति का निरोध है।[3] योग–दर्शन में चित्त की स्थिरता की प्राप्ति के लिए तथा चित्तवृत्ति निरोध के लिए अष्टांग योग हैं– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि।[4] मनुष्य के चरित्र–निर्माण में यम एवं नियम की भूमिका महत्वपूर्ण है। यम योग का प्रथम अंग है। बाह्य तथा आन्तरिक इन्द्रियों के संयम–क्रिया को 'यम' कहते हैं। यम पाँच प्रकार के होते हैं– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दार्शनिकों ने उपरोक्त नैतिक साधन को स्वीकार किया है। मन एवं शरीर को सबल बनाने के लिए इन महाव्रतों का पालन आवश्यक है। पतंजलि ने अपने *योग सूत्र* में कहा है कि 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'।[5] योग दर्शन में हिंसा को सभी बुराइयों का आधार माना गया है। अहिंसा का अर्थ प्राणियों की हिंसा का परित्याग करना ही नहीं

बल्कि उनके प्रति क्रूर व्यवहार का भी परित्याग करना है। सत्य का पालन करना कठिन है, परन्तु असंभव नहीं। व्यक्ति को वैसे वचन का प्रयोग करना चाहिए जिससे सभी प्राणियों का हित हो । अस्तेय तीसरा यम है। दूसरे के धन के अपहरण की प्रवृत्ति का त्याग ही अस्तेय है। ब्रह्मचर्य चौथा यम है, इसका अर्थ विषय–वासना की ओर झुकने वाली प्रवृत्ति का परित्याग। अपरिग्रह पाँचवा व अंतिम यम है। लोभवश अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह परिग्रह कहलाता है। उपरोक्त पाँचों यम के पालन करने से व्यक्ति के चरित्र उत्कृष्ट होते हैं तथा मन पवित्र होता है ।

अष्टांग योग का दूसरा अंग 'नियम' है जिसका अर्थ सदाचार को प्रश्रय देना है। व्यक्ति को चरित्रवान होने के लिए इन भावात्मक सद्‌गुणों का पालन आवश्यक है। नियम भी पाँच हैं, शौच, संतोष, तपस्, स्वाध्याय, ईश्वर–प्रणिधान।[6] नियम का संबंध आचरण से है। शौच के अन्दर बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि समाविष्ट है। स्नान, पवित्र भोजन, स्वच्छता के द्वारा बाह्य शुद्धि तथा मैत्री, करुणा, सहानुभूति, प्रसन्नता, कृतज्ञता द्वारा आन्तरिक शुद्धि को अपनाना चाहिए । संतोष दूसरा नियम है। उचित प्रयास से जो कुछ भी प्राप्त हो उसी से व्यक्ति को संतुष्ट रहना चाहिए। तपस् तीसरा नियम है। शारीरिक कठिनाइयों को झेलने की शक्ति को तपस् कहते हैं। स्वाध्याय चौथा यम है जिसका अर्थ शास्त्रों का अध्ययन तथा ज्ञानी पुरुषों के कथनों का अनुशीलन है। ईश्वर–प्रणिधान अंतिम नियम है, जिसमें ईश्वर के प्रति व्यक्ति को श्रद्धा रखने की बात कही गई है। इस प्रकार उपरोक्त निषेधात्मक एवं भावात्मक सद्‌गुणों के पालन से व्यक्ति का चारित्रिक उत्थान संभव हो पायेगा । सत्य, अहिंसा, प्रेम, त्याग, भ्रातृत्व, मैत्री, करुणा, सहानुभूति, प्रसन्नता, कृतज्ञता, परार्थ की भावना, सच्चरित्र, क्षमाशीलता की भावना आदि ऐसे नैतिक मूल्य हैं, जिनकी प्रासंगिकता सार्वकालिक है। यदि व्यक्ति जीवन में यम एवं नियम का पालन करे तो उसका चरित्र उत्कृष्ट एवं प्रशंसनीय होगा। योग दर्शन में अहिंसा अर्थात् हिंसा का परित्याग, अस्तेय अर्थात् चौरवृत्ति का वर्जन, ब्रह्मचर्य अर्थात् वासनाओं का परित्याग, अपरिग्रह अर्थात् विषयासक्ति के त्याग का आदेश दिया गया है। इसके अतिरिक्त शौच (मन और शरीर की पवित्रता) संतोष, स्वाध्याय आदि नैतिक अनुशासनों पर बल दिया गया है।

यह प्रसन्नता की बात है कि वर्तमान समय में समाज के सभी वर्गों में योग के अध्ययन एवं अभ्यास के प्रति रुचि बढ़ी है। यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि बाबा रामदेव जी ने जिस ढंग से आसन एवं प्राणायाम के द्वारा तनाव एवं शारीरिक व्याधियों से मुक्ति का सफल प्रयास किया है उसके कारण योग आज सर्वसाधारण की जीवन–पद्धति का रूप धारण करते जा रहा है। इसके लाभ से प्रायः लोग परिचित होकर इसे दिनचर्या का विषय बना लिए हैं। चिकित्सा–विज्ञान ने भी योग

की सार्थकता को स्वीकार कर लिया है। पिछले कुछ वर्षों में योग भारतीय सीमा से हटकर अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर, व्यक्तिगत साधना मात्र से हटकर व्यापक समाज–परक उपयोगिता की ओर तथा आध्यात्मिक विद्या मात्र से हटकर वैज्ञानिकता की ओर अग्रसर हो रहा है ।

लेकिन एक विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या शारीरिक रूप से स्वस्थ एवं तनाव से मुक्त व्यक्ति के आचरण नैतिक होंगे ही ? ऐसा कहना उचित नहीं होगा। ऐसा देखने को मिल रहा है कि आसन एवं प्राणायाम के द्वारा व्यक्ति की शारीरिक व्याधियाँ दूर हो रही हैं। लेकिन वे सद्‌गुणी नहीं हो रहे हैं। शारीरिक रूप से स्वस्थ होने के बावजूद भी वे लोभ, क्रोध, मोह, माया, घृणा, द्वेष आदि कुप्रवृत्तियों से मुक्त नहीं हो पा रहे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि शारीरिक रूप से स्वस्थ होने के साथ ही व्यक्ति के चरित्र उन्नत हों, इसके लिए यम एवं नियम के पालन हेतु ईमानदार पहल करनी होगा। महर्षि पतंजलि ने यम एवं नियम को अष्टांगिक योग के क्रमशः प्रथम एवं द्वितीय सोपान के रूप में स्वीकार किया है। इसके पीछे उनका यही उद्देश्य रहा है कि पहले मनुष्य पवित्र एवं नैतिक बनें। यम एवं नियम के पालन से मनुष्य की सारी बुराइयाँ दूर हो जाती हैं एवं उसका चरित्र सबल एवं उन्नत हो जाता है। ऐसे चरित्रवान व्यक्तियों से ही एक सुन्दर एवं सशक्त समाज व राष्ट्र का निर्माण हो सकता है। बहिरंग साधना में यम एवं नियम का महत्वपूर्ण स्थान है। बहिरंग साधना के बाद ही व्यक्ति अन्तरंग साधना (धारणा, ध्यान तथा समाधि) के लिए तैयार होता है। अष्टांग योग के पालन से व्यक्ति चरित्रवान बनता है, चित्त का विकार नष्ट हो जाता है तथा आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को पहचान पाती है तथा वही मोक्ष की स्थिति है। लेकिन यह दुःखद बात है कि प्रायः योगगुरुओं के योग–साधना–शिविर में बाजारवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है, जो महर्षि पतंजलि के योग की परिकल्पना को साकार होने में बाधक है।

IV

चरित्र–निर्माण का संकट सिर्फ वयस्कों के लिए ही नहीं, बल्कि बच्चों के लिए भी है। इसलिए हमारी दृष्टि में योग की शिक्षा प्राथमिक स्कूल स्तर से ही अनिवार्य रूप से होनी चाहिए । बचपन से ही योगाभ्यास करने से मनुष्य का शारीरिक, मानसिक व चारित्रिक विकास एक निश्चित दिशा में होगा और उनके व्यक्तित्व में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होगा । चित्त के विकारों को दूर करके ही मनुष्य के जीवन में शांति एवं सुख स्थापित की जा सकती है। निरन्तर योगाभ्यास से चित्त शांत होता है, मन निर्मल होता है तथा बुद्धि तीक्ष्ण होती है। शिक्षा का एक महत्वपूर्ण कार्य व्यक्ति के नैतिक गुणों यथा– प्रेम, सहयोग, भाईचारा, ईमानदारी, त्याग, अनुशासन, कर्त्तव्य, दायित्व आदि गुणों का विकास करना है। इन

गुणों के अभाव में व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। प्राकृतिक रूप में मनुष्य में वे सभी बुराइयाँ हैं, जो पशुओं में पायी जाती हैं। अरस्तू ने मनुष्य को विवेकशील पशु कहकर परिभाषित किया था। पशु की तरह मनुष्य में भी क्रोध, हिंसा, स्वार्थमूलक प्रवृत्ति, द्वेष, घृणा आदि अनैतिक गुण हैं । जब मनुष्य में ये सारी बुराइयाँ क्रियाशील हो जाती हैं, तो सामाजिक नियंत्रण समाप्त होने लगता है। शिक्षा का कार्य इन बुराइयों को दूर करके व्यक्ति को एक नैतिक प्राणी बनाना है । शिक्षा ही वह माध्यम है, जिसके द्वारा व्यक्ति को नैतिक व मूल्यपरक ज्ञान दिया जा सकता है। प्राचीन काल से ही कथा, उपदेश, धार्मिक ग्रंथ, साहित्य एवं दर्शन के द्वारा इस प्रकार के ज्ञान लोगों को मिलते आ रहे हैं। परन्तु वर्तमान शिक्षा इस कार्य को प्रभावी ढंग से नहीं कर पा रही है। यही कारण है कि आज सम्पूर्ण विश्व में वैमनस्य, अलगाव, संघर्ष, हिंसा, स्वार्थमूलक प्रवृत्ति आदि वर्तमान हैं। वर्तमान शिक्षा–व्यवस्था में बच्चों को नैतिक सद्‌गुणों से सम्पन्न करने की कोई सुव्यवस्थित एवं संगठित योजना नहीं है। इस कार्य को पूरा करने के लिए वस्तुतः योजनाबद्ध तरीके से विद्यालय स्तर से ही नैतिक दर्शन एवं योग दर्शन की शिक्षा अनिवार्य रूप से देने की जरूरत है, ताकि बच्चों को नैतिक मूल्यों की सही जानकारी हो सके । मूल्यपरक शिक्षा देने की आवश्यकता सभी ने, सरकार ने भी, महसूस की है। सरकार के द्वारा गठित समितियों एवं आयोग ने भी मूल्यपरक शिक्षा की अनुशंसा की है। श्रीप्रकाश कमिटि एवं कोठारी शिक्षा–आयोग ने भी नैतिक आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा देने की अनिवार्यता पर बल दिया है। पश्चिमी संस्कृति और वैज्ञानिक उपलब्धियों के प्रभाव में आकर आज के बच्चे अपनी प्राचीन संस्कृति को भूलते जा रहे हैं। बच्चों को विज्ञान के साथ–साथ प्राचीन भारतीय संस्कृति से भी परिचित कराना पड़ेगा, जिससे एक सुव्यवस्थित एवं प्रगतिशील समाज की रचना की जा सके। शिक्षा का उद्देश्य सर्वांगीण विकास है। अर्थात् विज्ञान के ज्ञान के साथ–साथ आत्मज्ञान भी आवश्यक है। अतः शिक्षा का एक महत्वपूर्ण कार्य चरित्र–निर्माण भी है। यदि प्राथमिक स्तर से ही भावनात्मक एवं निषेधात्मक सद्‌गुणों का ज्ञान कथा, कहानियों के द्वारा एवं योग के कुछ प्रारंभिक सरल आसनों की प्रयोगात्मक शिक्षा दी जाए तो चरित्र–निर्माण के साथ ही शारीरिक एवं मानसिक रूप से बच्चे स्वस्थ होंगे।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर यह निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि योग–दर्शन का उद्देश्य केवल तत्त्वशास्त्रीय दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करना ही नहीं है बल्कि इस सैद्धान्तिक विवेचना के साथ–साथ व्यक्ति को अपने व्यावहारिक जीवन में चारित्रिक दृष्टि से एक अच्छा मनुष्य भी बनाना है। इसलिए अष्टांगिक योग के प्रथम एवं द्वितीय अंग के रूप में क्रमशः यम एवं नियम को

स्वीकारा गया है। उसके बाद ही क्रमशः आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान एवं समाधि की बात कही गई है। पतंजलि–प्रणीत योग के अष्टांग–मार्ग के द्वारा व्यक्ति के चारित्रिक गुणों का विकास होता है, शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ होता है तथा सभी प्रकार के चित्तवृतियों के निरोध के बाद तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिए मानव–जीवन का मार्ग–दर्शन करने की दृष्टि से योग–दर्शन का योगदान निश्चय ही सराहनीय है।

अध्यक्ष, दर्शनविभाग, किसान कॉलेज, सोहसराय (नालंदा) बिहार

संदर्भ

1) *प्रो. एम. हिरियन्ना, आउटलाइन्स ऑफ इंडियन फिलॉसफी, पृ.–20, मोतीलाल बनारसीदास, 1993*

2) *हरिजन, 1:2:1933, 3) योगसूत्र, 1:2, 4) वही, 2:29, 5) वही, 3:30, 6) वही, 2:30*

चार्वाकदर्शन का पुनर्मूल्यांकन : विरचनावाद के विशेष संदर्भ में

श्री चन्द्रभूषण सिंह

भारतीय दार्शनिक क्षितिज पर चार्वाक का अविभार्व तब होता है जब भारतीय चिंतन–धारा जादू और विज्ञान, संदेह और विश्वास, अनुज्ञा और तपस्या के घालमेल के बीच झूल रही थी। चार्वाक दर्शन भौतिकवादी प्रवृत्ति का परिचायक है जिसकी झलक महाकाव्यों एवं आरंभिक बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थों में मिलती है। चार्वाक की चर्चा सर्वप्रथम *महाभारत* के *'शांतिपर्व'* में मिलती है। बहुश्रुत एवं प्राचीन ग्रन्थों में निष्णात लोगों का उल्लेख *महाभारत* में मिलता है जो परलोक की सत्ता एवं आत्मा की अमरता को अस्वीकार करते थे।

यह विचारधारा प्रत्यक्ष प्रमाणवाद, भौतिकवाद, भूतचैतन्यवाद तथा इहलौकिक सुखवाद एवं चार प्रकार के तत्वों– पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु को स्वीकृति प्रदान करती है, साथ ही धर्म–अधर्म, पाप–पुण्य, स्वर्ग–नरक, परलोक, आत्मा, ईश्वर जैसे दार्शनिक प्रत्ययों को कपोल–कल्पित मानती है। यद्यपि इसके प्रणेता एवं ग्रन्थों के संबंध में निश्चयात्मकता नहीं पायी जाती फिर भी भारतीय दर्शन को इसका अवदान अत्यंत महत्त्व का है। इसने भारतीय दर्शन को हठवादिता एवं आत्मविमुखता की चिरनिद्रा से जगाया है। चार्वाक दर्शन में इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को शुष्क एवं कठोर तर्कों के माध्यम से दृढ़ता के साथ उपस्थित किया गया है कि मानव–स्वभाव सुख को न्यूनाधिक रूप में वांछनीय मानता है तथा यथार्थवादी सोच की अगली कड़ी के रूप में यह स्वीकार किया गया है कि हाड़–मांस के शरीर से युक्त मानव राग–द्वेष के ऊपर विजय प्राप्त करने में कठिनाई का अनुभव करता है और उसका झुकाव विषयों की ओर स्वाभाविक रूप से बना रहता है।

चार्वाक–दर्शन की विचारधारा भारतीय दर्शन की स्थापित मुख्यधारा– आस्तिक एवं अध्यात्मवाद की विसंगतियों को उजागर कर उसकी जगह अधिक स्वाभाविक एवं मूर्त अवधारणाओं को प्रस्थापित करने का प्रयास करती है जो जनमानस की आकांक्षाओं एवं अभिमत के ज्यादा नजदीक जान पड़ती हैं। संभवतः इसी कारण इसका दूसरा नाम 'लोकायत' भी है। 'लोकायत' संज्ञात्मक एवं

विशेषणात्मक द्विविध अर्थों में प्रयुक्त होता है। विशेषणारूप में इसका अर्थ 'जगत् या जन–साधारण में प्रचलित' है जबकि संज्ञा रूप में 'लोकायत' शास्त्र या टीका को संसूचित करता है जिसका उल्लेख पतंजलि के *महाभाष्य* में मिला है– 'वर्णिकाभागुरी लोकायतस्य'।[1] प्रामाणिक एवं विश्वसनीय साक्ष्यों के आधार पर प्रो. दासगुप्त ने यह सिद्ध किया है कि *भागुरीटीका* लोकायत या चार्वाक दर्शन का ही शास्त्र था जिसका रचनाकाल 300 बी.सी. से 150 बी.सी. है।

लोकायत अपने भीतर बिना किसी पूर्वाग्रह, निराधार कल्पना एवं मतान्ध सिद्धान्त का समावेश किए सामान्य लोगों का विचार है। यह केवल अतीन्द्रिय, अतिप्राकृतिक सत्ता में विश्वास को चुनौती देता है क्योंकि ये न तो इन्द्रियगोचर हैं और न ही वैध आधारों के सहारे इनका अनुमान किया जा सकता है। सांसारिक व्यवहारों के लिए चार्वाक मत में अनुमान को समर्थन मिलता है। अनुमान के संबंध में इसका मूर्तिभंजक स्वरूप तब उग्र हो जाता है जब आनुभविक जगत् से अतीन्द्रिय जगत् की ओर अवैधानिक तरीके से संक्रमण होता है। चार्वाकमत का अनुयायी, पुरन्दर सांसारिक वस्तुओं को निश्चित करने में अनुमान प्रमाण की उपयोगिता स्वीकार करता था लेकिन परलोक या कर्म–सिद्धान्त के लिए इसे अनुपयुक्त मानता था।[2]

चार्वाक दर्शन में अनुमान प्रमाण की अस्वीकृति इसके आधार 'व्याप्ति' या अविनाभाव संबंध को लेकर है। यह संबंध हेतु, साधन या लिंग तथा साध्य या लिंगी के बीच साहचर्य–नियम से बनता है। लेकिन यह साहचर्य–नियम उपाधिशून्य होनी चाहिए। व्याप्ति के प्रसिद्ध उदाहरण 'यत्र–यत्र धूमः तत्र–तत्र बह्निः' में धूम और बह्नि के बीच निरुपाधिक संबंध नहीं है। कुछ जगहों पर धुएं के साथ आग को देखकर यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता कि 'जहां–जहां धुआं है, वहां–वहां आग है'। हम अपने केवल अखंडित अनुभव और प्रकृति समरूपता नियम के आधार पर ऐसा कहने के लिए विवश हो जाते हैं। धुएं और अग्नि के बीच अनिवार्य कारण–कार्य संबंध नहीं है। इतनी सी बात का ज्ञान तो चार्वाक मत का प्रतिनिधित्व करने वाली नैयायिक की पत्नी तक को था; तभी तो उसने अपने नैयायिक पति के समक्ष धुएं से भरे घड़े को पटकते हुए कहा– 'अत्र धूमः कुत्र अग्निः?' चार्वाक दर्शन में अनुमान में अविश्वास का आधार भी यही है।

औपनिषदिक चिंतन में विचार–विमर्श द्वारा जिस दार्शनिक प्रतियोगिता का सूत्रपात किया गया था उसकी पूर्ण व्याख्या एवं दिशा स्वयं उन चिंतकों से भी छुपी हुई थी। *बृहदारण्यक* (2.4.12; 4.5.13) में याज्ञवल्क्य की उद्घोषणा 'इन मूल तत्वों से चेतना (आत्मा) की उत्पत्ति होती है और पुनः इसकी समाप्ति हो जाती है' तथा *छान्दोग्य* का प्रजापति–इन्द्र–विरोचन संवाद (7.7.8) अध्यात्मवादी प्रवृत्ति से भिन्न कुछ दूसरी कहानी कहते जान पड़ते हैं। *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में अनेक नास्तिक

मतों का उल्लेख है तथा भूत को अन्तिम (मूल) सिद्धान्त माना गया है। *गीता* (16.71) में भी ऐसे धर्मावलंबियों का उल्लेख है जो कर्म–काण्ड में श्रद्धा नहीं रखते थे, साथ ही लोक–लुभावन बात करने वाले, यानि स्वर्गादि का प्रलोभन देकर यज्ञ के लिए प्रेरित करने वाले की निन्दा की गयी है। *रामायण* (2.108) के जाबालि परलोक में विश्वास तथा मृतात्मा के संतोष के लिये किये जाने वाले तर्पण एवं दानादि को अनावश्यक मानते थे। अयोध्या कांड में वे राम को वन–गमन से रोकने हेतु तर्क प्रस्तुत करते हैं कि पिता के राज्य को छोड़कर कंटकाकीण रास्तों पर चलना श्रेयस्कर नहीं है तथा तुम्हें यह मानकर चलना चाहिए कि परलोक नहीं है। अतः परोक्ष की उपेक्षा कर एवं प्रत्यक्ष को स्वीकार कर आचरण करना चाहिए। *महाभारत* के 'शांतिपर्व' में भारद्वाज–भृगु संवाद चार्वाकमत का समर्थन करता प्रतीत होता है जहां भारद्वाज द्वारा यह शंका उपस्थित की जाती है कि जब गो, गोदान करने वाला एवं लेने वाला, तीनों का अन्त इसी लोक में हो जाता है तब परलोक में उनका समागम कैसे हो सकता है? इस प्रकार उनका यह आग्रह है कि जीवन–व्यापार भौतिक और शरीर–विज्ञान द्वारा समझाया जा सकता है, अतः इसके लिए आत्मा की मान्यता स्वीकार करना अनावश्यक है। ऐसे विवरणों से ज्ञात होता है कि टीकाकारों एवं भाष्यकारों की मंडली ने भारतीय चिंतन–धारा के स्वाभाविक प्रवाह को रोकने हेतु तथा अपने अघोषित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वेदों, उपनिषदों और स्मृतियों के बीच बेमेल संगति स्थापित करने का प्रयास किया है और इस प्रकार संस्थागत आधिकारिक व्याख्या को लोकमानस पर थोपने का प्रयत्न किया है। इस स्थल पर उत्तर–आधुनिक विचारधारा 'विरचनावाद' की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट हो जाता है जिसकी मान्यता है कि परम्परागत पक्षपात, झुकाव एवं दृष्टिकोंण–भिन्नता के कारण स्वाभाविक प्रवृत्तियों को दमित कर दिया जाता है। चार्वाकदर्शन ने भारतीय चिंतन, विशेषकर वैदिक परम्परा में अंतर्भूत आंतरिक संघर्षों एवं विरोधों को उकसाने का काम किया है और इस प्रकार यह चिंतन–प्रणाली विरचनावाद के तत्व को आत्मसात् किये हुए है।

विरचनावादी प्रवृत्ति फ्रांस के टेलक्वेल मंडली में प्रचलित थी लेकिन दार्शनिक जगत् से इस विचारधारा का परिचय जॉक डेरिडा के माध्यम से होता है। यह विचारधारा परम्परा से स्थापित संस्थागत–अधिकृत अर्थ और व्याख्या को विस्थापित कर उनकी जगह नये अर्थ एवं आयाम की खोज करती है।[3] विरचनावाद एक तरह की बौद्धिक आंदोलनात्मक प्रवृत्ति है जिसमें दार्शनिक ग्रंथों की आलोचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक व्याख्या का रुझान पाया जाता है। यह प्रक्रिया सदियों पुरानी संस्था–प्रदिष्ट किसी पाठ (ग्रंथ) की व्याख्या प्रत्युत्तर है। परम्परा के अनुसार निर्धारित या विहित विधि ग्रंथ के रचनाकार को पाठ की व्याख्या एवं अर्थ के लिए अंतिम स्रोत मानती है और इस कारण उसका यह आग्रह होता है कि किसी भी पाठ

के विश्लेषण एवं व्याख्या के क्रम में लेखक को प्राथमिकता देना होगा। इससे भिन्न विरचनावाद की यह अवधारणा है कि अर्थ–निर्धारण और व्याख्या लेखक, पाठ एवं पाठक की त्रयी द्वारा संभव हो पाती है। इस कारण अंतिम–अर्थ–निर्धारण के निरपेक्ष प्रयोग के किसी भी प्रयास को प्रोत्साहित नहीं किया जाना चाहिए। द्वितीयतः, पारम्परिक पूर्वाग्रह एवं मान्यताओं के साथ–साथ लेखक की अव्यक्त लालसा भी टेक्स्ट में समाविष्ट रहती है और उसे आधार प्रदान करती है। पुनः, टेक्स्ट अपनी रचना, सम्प्रेषण एवं अभिग्रहण में भाषा, सांस्कृतिक चलन एवं विचारधारा द्वारा व्यवहित होता है। अतः आधिकारिक एवं निरपेक्ष व्याख्या पारम्परिक मान्यताओं एवं पूर्वाग्रह के रंग में रंगी होती है।[4] इसलिए निहितार्थ को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि पाठक लेखक की सोच से स्वयं को असंम्पृक्त रखे एवं उसके साथ अनुनाद न पैदा करे, उसके विश्वास को सीधे आत्मसात् एवं हृदयंगम न करे। पाठक पाठ के गुप्त, अव्यक्त, अस्पष्ट एवं दमित अर्थों को अनावृत करे।

चार्वाक दर्शन की जानकारी एवं मूल्यांकन के लिए इसके किसी स्वतंत्र ग्रंथ के अभाव में विरोधी विचारधारकों के सहारे आगे बढ़ना पड़ता है जहां इसके खण्डन के प्रयोजनार्थ स्थान मिला हुआ है। अधिकांश भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में चार्वाकमत का उपहासात्मक एवं विद्रूप लेखांकन प्रस्तुत किया गया है, जो ठीक नहीं जंचता है। जिस विचारधारा को भारतीय दर्शन में एक स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में स्वीकृति प्राप्त है, वह इतनी अपरिष्कृत एवं विकृत हो सकती है, इस तथ्य को स्वीकार करने में असहजता महसूस होती है। ऐसा स्वीकार करने में कोई आत्मविरोध नहीं है कि संभवतः किसी अघोषित एजेंडे को क्रियान्वित करने हेतु इस तरह का गलत चित्रण प्रस्तुत किया गया हो। अगर चार्वाकदर्शन और लोकायत पर्यायवाची हैं तो यह मत इतना निदंनीय नहीं हो सकता क्योंकि लोक में व्याप्त एवं मान्य सभी बातें घृणित, संदेहास्पद एवं अवांछित नहीं हो सकतीं। देव गुरु वृहस्पति के इसके प्रणेता होने की स्थिति में निश्चित तौर पर उनकी अव्यक्त मंशा व्यक्त मंशा से भिन्न रही होगी।

चार्वाकदर्शन ने सदियों के अन्धविश्वास और आत्मविमुखता को झकझोर कर रख दिया। भूतकाल की उपलब्धियों के व्यामोह से आत्मग्रस्त युग को चार्वाकदर्शन मुक्त कराने का कष्टसाध्य प्रयास करता है। इसने हठधर्मिता को दूर करने में सहायता पहुंचायी जो चिंतन के महान् रचनात्मक प्रयासों के लिए अनिवार्य है। इसका आग्रह है कि बुद्धि की कसौटी पर जो अपने को प्रमाणित नहीं कर सके, त्याज्य है। इसमें दर्शन के मुख्य प्रश्नों के आलोक में ईशविद्या की माया से मुक्त निर्णयों का प्रयोग किया गया है। यह प्रभुत्व के सिद्धान्त को अस्वीकृत करता है एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता की घोषणा की वकालत करता है। प्राकृतिक घटनाओं की

व्याख्या के लिए उन पर अलौकिक शक्तियों और देवत्व का आरोपण करना उनकी गलत व्याख्या प्रस्तुत करना है। बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के प्रकृति अपना काम स्वयं करती है और अपनी विविधता के लिए प्रकृति स्वयं उत्तरदायी है। प्रकृति शुभ और अशुभ दोनों के प्रति विमुख या उदासीन है। सभी मानवीय मूल्यों के प्रति प्रकृति निरपेक्ष रूप से तटस्थ है। अग्नि की उष्णता एवं पानी की शीतलता स्वयं इनके स्वभाव में निहित है। इस प्रकार के दृष्टिकोण के चलते चार्वाकदर्शन भी विरचनावाद की तरह उग्र एवं मूर्तिभंजक प्रवृत्ति की तरह प्रतीत होता है जिसके नजदीक कोई भी सिद्धान्त या मान्यता अलंघनीय नहीं है। विरचनावाद की तरह चार्वाक भी सम्पूर्ण दार्शनिक परम्परा को शंका भरी निगाहों से देखता है। चार्वाकदर्शन भारतीय दार्शनिक परम्परा के प्रसिद्ध ग्रन्थों/पाठों के 'आंतरिक संघर्ष' को अनावृत करता है जो उनकी जड़ों को खोदकर उन्हें दुर्बल बनाता है। भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों, विशेषकर वैदिक परम्परा में उपलब्ध एक–दूसरे से उलझते तर्कों तथा स्व–निर्धारित सीमाओं के अतिक्रमण के आधार पर यह चिंतनधारा दार्शनिक विमर्श को उचित परिप्रेक्ष्य में रखती तथा तार्किक सीमा तक ले जाती है एवं अवक्रमण के चिन्ह के रूप में असत्यता, आत्मव्याघातकता, असंगतता एवं पुनरुक्ति को सतह पर लाती है। आस्तिक परम्परा अपनी विचार–प्रणाली में ही ऐसे 'आंतरिक विरोधों' को आत्मसात् किए रहती है जिनका समाधान असम्भव है, परिणामस्वरूप यह चिंतनधारा अपनी तर्क–प्रणाली, अपने सिद्धांत एवं अपने ग्रंथों में तार्किक रूप से असम्बद्ध जान पड़ती है। डेरिडा विभिन्न पाठों/सिद्धान्तों के इन्हीं असमाधेय आंतरिक विरोधों (एपोरियाज) को उजागर कर उनकी अयथार्थता एवं असंगतता की घोषणा करता है। आस्तिकों के आगम और तर्क के आधार पर चार्वाक ने उनमें आत्मविरोध दिखलाकर अपने मत को प्रतिष्ठित किया है।

केवल पौरोहित्य कर्म का विरोध चार्वाक दर्शन के उपहासात्मक चित्रण का कारण नहीं हो सकता क्योंकि आक्रमण की यही तीव्रता अन्य दो नास्तिक सम्प्रदायों– जैन एवं बौद्ध के प्रति भारतीय चिंतकों में नहीं पायी जाती है, यद्यपि ये दोनों ही नैतिकतावादी एवं अध्यात्मवादी हैं। यह स्थिति एक सजग एवं सचेत पाठक को यह सोचने के लिए उद्वेलित करती है कि संभवतः ऐसा न करके वे चिंतक अपने विचारों के लिए समर्थन की आशा कर रहे थे और प्रकारान्तर से अपनी विचारधारा की सर्वोच्चता को बनाए रखना चाहते थे। वस्तुतः चार्वाक दर्शन आस्तिक दर्शनों की विचारधारा के स्वतन्त्र प्रवाह में आड़े आ रहा था। इस बाधा के निरसन हेतु इसका व्यंग्यात्मक एवं निंदात्मक चित्रण पेश किया गया।

कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* में लोक–संस्थिति के लिए मान्य चार विद्याओं– आन्वीक्षिकि, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति में आन्वीक्षीकि (हेतु विद्या) को प्रथम स्थान दिया गया है[5] जिसके अन्तर्गत लोकायत की भी गणना है[6] जो पूर्वाग्रह और

हठधर्मिता से दूर है। आन्वीक्षिकि में किसी निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए कारणता/तर्कबुद्धि का सहारा लिया जाता है तथा किसी भी विचार की स्थापना के पीछे आस्था, विश्वास, पूर्वाग्रह एवं अवैध अनुमान का 'खेल' न होकर ठोस आधार होता है। हेतु के आधार पर चार्वाक द्वारा प्रदत्त तर्क कौटिल्य की नजर में सशक्त है। इस तरह की पृष्ठभूमि में मनु द्वारा हेतुशास्त्रवादियों और वेद एवं स्मृति को नगण्य माननेवालों को समाज–बहिष्कृत करने के लिए योग्य विद्वानों को प्रेरित करना[7] प्रश्न–चिन्ह के दायरे में आ जाता है। अगर लोकायत हेतु–विद्या है, कारण का विज्ञान है तो इसका इस प्रकार तिरस्कार क्यों ?

पूर्वाग्रह और हठधर्मिता के आधार पर अतीन्द्रिय सत्ता के अस्तित्व की स्वीकारोक्ति का लोकायत द्वारा विरोध तार्किक रूप से ठोस धरातल पर खड़ा दीख पड़ता है। इस तरह के विचार का सामाजिक–नैतिक महत्व भी है। यह मनुष्य को वास्तविक सामाजिक–वैयक्तिक व्यवहारों में ईमानदार कोशिश के लिए भी निर्देशित करता है तथा अवास्तविक अनुमानों एवं कल्पनाजन्य विनिर्मितियों के पीछे नहीं भागने की वकालत करता है। पुरन्दर का व्यावहारिक जीवन में अनुमान की अनुशंसा करना चार्वाक दर्शन की ज्ञानमीमांसा में एक महत्वपूर्ण घटना है जो सार्थक रूप में आनुभविक ज्ञान के आधार की स्पष्ट घोषणा करता है जो समाज में रहने वाले मनुष्य के लिए आवश्यक है।

जीवन और जगत् से जुड़ी समस्याओं की गुत्थी को सुलझाने हेतु दो प्रकार के प्रश्नों के आलोक में विवेचन उपस्थित किए जाते रहे हैं– क्या विश्व का वर्तमान स्वरूप अपनी विविधताओं के साथ अनादि काल से इसी रूप में है अथवा क्रमिक विकास का परिणाम है और इनका उत्तर तत्वमीमांसीय एवं तार्किक या वाद–विवादात्मक विधि (Dialectical method) द्वारा दिया जाता रहा है। तत्वमीमांसीय विधि विरचनावाद द्वारा त्याज्य एवं अस्पृश्य घोषित 'एपिस्टीम', 'फिलॉस्फीम्स' एवं 'लोकोत्तर निषिद्ध अवधारणा'[8] (Transcendental Contraband) जैसी अभिवृत्तियों को आत्मसात् करने के कारण, आस्था, विश्वास, श्रद्धा, पूर्वाग्रह एवं पक्षपात को बढ़ावा देती है। तार्किक या द्वन्द्वात्मक विधि प्राकृतिक घटनाओं एवं विविधताओं का कारण उसके भीतर ही खोजती है। चार्वाक दर्शन में भी इसी दृष्टिकोण को अपनाया गया है। इस विधि का शास्त्रीय उदाहरण सुकरातीय पद्धति है जिसमें किसी अनुशंसित या परीक्षाधीन सत्य/वाद/सिद्धान्त को आत्मविरोधी दिखलाकर अस्वीकृत किया जाता है। आत्मविरोध एवं आन्तरिक संघर्ष ही वह कसौटी है जिसके आधार पर विरचनावाद भी किसी वाद/सिद्धान्त/पाठ को तिरस्कृत करता है। चार्वाक दर्शन भी अपने विचारों के प्रतिपादन में आद्योपांत इस मानदण्ड को अपनाए रहता है।

चार्वाक विचारधारा आस्तिक चिन्तनधारा की विशिष्ट तकनीकी शब्दावलियों (Philosophemes) यथा, आत्मा, मोक्ष, ईश्वर, परलोक इत्यादि की स्वतःसिद्ध एवं

सर्वग्राह्यता के दावे को निरुत्साहित करती है। इसके आगे आस्तिक दर्शनों की परम्परा के प्रति अगाध श्रद्धाभाव एवं गौरवबोध (Episteme) जैसी मानसिक अभिवृत्तियां घुटने टेकती नजर आती हैं। चैतन्य आत्मा की सर्वमान्यता जैसी लोकोत्तर निषिद्ध अवधारणा (Transcendental contraband) अपने किसी भी रूप में चार्वाक को मान्य नहीं है। भूतों से पृथक् चैतन्ययुक्त आत्मा की सत्ता वैज्ञानिक उपलब्धियों द्वारा प्रमाणित नहीं की जा सकती है।

चार्वाक के लिए असंभव निरतिशय सुख में प्रवृत्ति एवं निरतिशय दुःख–निवृत्ति की कामना (मोक्ष का आदर्श); 'भूमैव सुख' की लालसा की तुलना में सातिशय सुख ही श्रेयस्कर है– वरमद्यः कपोतः न श्वो मयूरः। प्रकारांतर से वह निरपेक्षता एवं एकांतिकता की जगह सर्वसमावेशी एवं प्रगतिशील– सापेक्षदृष्टिकोण अपनाने की सलाह दे डालता है जो उसे हठवादिता से बचाती है। इस प्रकार के अध्ययन के आलोक में चार्वाक मत को विरचनावादी सम्प्रत्ययों के सापेक्ष समाकलित करने पर भारतीय चिन्तन–परम्परा को एक नयी सृजनात्मक दृष्टि मिल सकती है तथा कई अनछुए पहलू उद्भासित हो सकते हैं तथा दर्शन के क्षेत्र में प्रतिगामी कदमों से बचा जा सकता है।

व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग,
डी.ए.वी.पी.जी. कॉलेज, सिवान, बिहार

संदर्भ

1. *वर्णिका भागुरी लोकायतस्य, पतंजलि, महाभाष्य, 7.3.45, उद्धृत डॉ. एस.एन. दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, III, (अनु.) ए.यू. बसावड़ा, जयपुर : राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1989, पृ. 406.*
2. *कमलशील : पंजिका पृ. 431, उद्धृत दासगुप्ता, पृ. 423.*
3. *पावेल, जिम : पोस्टमोडर्निज्म फॉर बिगिनर्स, चेन्नई : ओरिएंट लॉगमैन, 2003, पीपी. 99–105*
4. *ली, जॉन : ''डीकंस्ट्रक्सन; सम एजम्पसन्स'', कंटेम्पोरैरी लिटररी थ्योरी, यू.एस.ए. : ब्रूक यूनिवर्सिटी, 1996.*
5. *कौटिल्य : अर्थशास्त्र, (अनु.) आर.पी. कांगले, दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 2006, पृ. 4.*
6. *सांख्य योग : लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी, अर्थशास्त्र, उद्धृत कांगले, पृ. 4.*
7. *मनु : मनुस्मृति, 2–11, उद्धृत दासगुप्ता, पृ. 408.*
8. *सिंह, सी.पी. : शंकर आफ्टर डेरिडा, 2006, पीपी. 70–71 (अप्रकाशित)*

रामकृष्ण परमहंस की ईश्वरविद्या और तत्त्वमीमांसा

कु. द्युति याज्ञिक

रामकृष्ण परमहंस के तत्त्वज्ञान को समझने की वर्तमान युग में आवश्यकता है। कोई भी सभ्यता और संस्कृति ऐसी नहीं है जिसके आधार में एक या दूसरे स्वरूप में धर्म का स्वीकार न हो। इसलिये एक तरफ सुंस्कृति का आधार धर्म है, तो दूसरी तरफ ज्यादातर कई युद्ध और संघर्ष धर्म के नाम पर ही हुये हैं। आतंकवाद की जो व्यापक समस्या है वह धर्म की विपरीत समझ का ही परिणाम है इसलिये धर्म की सही समझ प्राप्त करनी अति आवश्यक है, जहां आदमी अपने निजी धर्म की सही उपासना करे और साथ ही साथ अन्य धर्मों के प्रति सार्वत्रिक दृष्टि को विकसित करे। चिंता, स्पर्धा और हताशा के युग में जीने वाला आधुनिक मानव नास्तिक बनके, सेक्युलरिझ्म के नाम पर धर्म की स्वास्थ्य प्रदान करने वाली और सहायकारक शक्ति का बलिदान भी दे नहीं सकता और दूसरी तरफ 21वीं सदी में मताग्रही बनकर जी भी नहीं सकता। इसलिये आधुनिक समय में शान्तिमय सहअस्तितव के लिये अपने खुद के धर्म की उपासना, साथ–साथ अन्य धर्मों के प्रति आदर और अन्य धर्मों का ज्ञान आवश्यक है।

इस उलझे हुये और आधार विहीनता महसूस करते आधुनिक मानव के लिये 19वीं सदी में रामकृष्ण ने आध्यात्मिक नेतृत्व प्रदान किया है। रामकृष्ण अपनी तार्किक दृष्टि से सुसंगत और समरूप तत्व–ज्ञान से सामान्यतः लोगों का, आधुनिकता के परिणामस्वरूप संज्ञानात्मक विवस्वरता 'कोगनिटिव डिझोनन्स' (फेस्टिंजर के शब्दों) दूर करते हैं।

रामकृष्ण के तत्त्वज्ञान के ऊपर संशोधन करने की जरूरत :

स्वामी तपस्यानन्दजी की पुस्तक– *"Sri Ramkrishna's Thoughts on Man, World and God"* है जो 1939 के 'वेदान्त केसरी' मेगझीन के सम्पादकीय में प्रकाशित निबन्धों का संकलन है। यह पुस्तक 1939 में प्रकाशित हुई जिसकी प्रकाशननोट्स में उस समय के रामकृष्ण ऑर्डर के प्रेसिडेंट ने लिखा है, "There is an urgent need today to make an in-depth study of Sri Ramakrishna's ideas to discover his philosophy and to present it in a systematic format, we hope this book will be helpful to those who wish to take up this challanging task." यहां इसका नम्र प्रयत्न किया गया है।

एल्डस हक्सले *"The Gospal of Sri Ramakrishna"* के आमुख में गोस्पेल की लिखाई के बारे में कहते हैं कि "The casual and unstudied utterances of a great religious teacher". (GSR : v-vi) तो रामकृष्ण के सहज उच्चारणों को पद्धतिसर दर्शाने की आवश्यकता है। यहां उनके ईश्वरविद्या और तत्त्वमीमांसा सम्बन्धित चिंतन प्रस्तुत किया गया है।

ब्रह्म का स्वरूप :

रामकृष्ण कहते हैं कि परमतत्त्व के सगुण–साकार और निर्गुण–निराकार दोनों गुण अलग–अलग लोगों के लिये हैं, और परमतत्त्व इतना शुद्ध है कि उनके अलग–अलग रूप धारण करने के बावजूद उनके खुद में कोई परिवर्तन नहीं होता है। इसलिये रामकृष्ण समझाते हैं कि "परमतत्त्व एक और मात्र एक ही है, नाम का ही भेद है। जो ब्रह्म है वही आत्मन् है और फिर से, वही भगवान् है। ज्ञानमार्गियों के लिये वो ब्रह्म है, योगियों के लिये परमात्मन् है और भक्तों के लिये भगवान् है।" (GSR : 134) भक्त हैं वो ईश्वर के स्वरूप को पूजते हैं और ज्ञानी निर्गुण–निराकार स्वरूप पर ध्यान करते हैं। वे बर्फ और पानी का उदाहरण देके इस बात को समझाते हुये कहते हैं, "सच्चिदानन्द पानी का अनन्त व्याप है। ये महासमुद्र में बीच–बीच में बर्फ जम गयी है। उसी तरह, दिव्य प्रेम की शीतल असर से, भक्तों के लिये ईश्वर रूप (बर्फ) धारण करते हैं। ऋषियों को इंद्रियातीत रूप का दर्शन होता है और उनसे बात भी करते हैं। परन्तु इसके लिये भक्त को प्रेम–शरीर धारण करने की आवश्यकता है जिसकी सहायता से वो परमतत्व के दिव्य रूप को देख सकते हैं।" (GSR : 217) "ज्ञान–सूर्य की गर्मी से सगुण ईश्वर का रूप पिघल जाता है। निर्विकल्प समाधि में ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने से और परमतत्व से बात करने से अनन्त, निराकार ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, जो मन और वाणी से परे है।" (GSR : 218)

परमतत्त्व के सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक ऐसे गुणों को रामकृष्ण इस तरह समझाते हैं–

परमतत्त्व–सर्वशक्तिमान :

रामकृष्ण मानते हैं कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है। जे.एस. मिल ने ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं हो सकते, ऐसा साबित करते हुए कहा है कि ईश्वर मर्यादा से काम कर सकते हैं, "He required to work under limitation" (Mill J.S., 1855: 176-77) रामकृष्ण के अनुसार ये ठीक नहीं है क्योंकि वो मानते हैं कि ईश्वर के बावजूद और ईश्वर से स्वतंत्र कुछ नहीं है। इस तरह रामकृष्ण ईश्वर की निःसहायता कभी स्वीकार नहीं कर सकते। रामकृष्ण मानते हैं कि ईश्वर षडैश्वर्यपूर्ण है, इसलिये उनका सर्वशक्तिमान अमर्याद है।

इसका मतलब यह नहीं है कि जो मूलभूत रूप से विरोधाभासी है वो भी ईश्वर करते हैं। ऑगस्टाइन ने दिखाया है कि ईश्वर के लिये मरना अशक्य है। मैक्टेगार्ट की दलील है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं है, क्योंकि वो विचारणा के तादात्म्य, व्याघाती और अन्य अनिवार्य नियमों को नजरअंदाज नहीं कर सकते। (McTaggart, J.M.E., 1906 : 202) ये सब दलीलों के सामने प्रिंगल पेट्टीसन ने सही दर्शाया है कि "To affirm omnipotence in such a sense is unnecessary." (Pringle-Pattision A.S., 1917 : 404) इस तरह रामकृष्ण कह सकते हैं कि अंसगत कर सकने की अक्षमता ईश्वर के सर्वशक्तिमान होने की विधायक संकल्पना को खंडित नहीं करती। ईश्वर सर्वशक्तिमान है क्योंकि वो उनके ईश्वर होने के स्वरूप से सुसंगत हो ऐसा कुछ भी करने की क्षमता रखते हैं।

परमतत्त्व–सर्वव्यापक :

ईश्वर की सर्वव्यापकता का वर्णन करते हुये रामकृष्ण कहते हैं कि सब कुछ अन्तिम तत्त्व में है। "The macrocosm and microcosm rest in the Mother's womb." और "Whatever is in the microcosm is also in the macrocosm." (GSR : 106, 889) परमतत्व सर्वव्यापक है। रामकृष्ण कहते हैं कि 'सर्वव्यापक चेतना के रूप में ईश्वर की सभी जगह सत्ता है।' (GSR : 567).

ईश्वर के सर्वव्यापक होने की संकल्पना रामकृष्ण के विचार से ईश्वर को पेनथिइस्टीक अर्थ में सर्वव्यापक मानना, ऐसा नहीं है। अर्थात् ईश्वर को सर्वव्यापक मानने का मतलब सिर्फ यह नहीं है कि ईश्वर सब कुछ है या तो सभी का योग है और उससे ज्यादा कुछ भी नहीं। इस तरह रामकृष्ण परमतत्त्व को सर्वव्यापक मानने के बावजूद वो पेनथिइझ्म को नहीं मानते हैं क्योंकि पेनथिइझ्म से अलग रामकृष्ण परमतत्त्व का सर्वव्यापक होने से उपरान्त के स्वतंत्र रूप को भी स्वीकार करते हैं। वो ईश्वर को सृष्टि जितने मर्यादित नहीं करते हैं, उससे पर भी उनके स्वतंत्र स्वरूप का स्वीकार करते हैं।

रामकृष्ण और सांख्य दर्शन :

रामकृष्ण परमतत्त्व के रूप को स्पष्ट करते हुये पुरुष और प्रकृति की संकल्पना का प्रयोग करते हैं। परन्तु यहां यह स्पष्ट करना जरूरी है कि रामकृष्ण की विचारणा सांख्य सिद्धान्त से मूलतः अलग है। रामकृष्ण के अनुसार परमत्त्व एक और मात्र एक ही है। ब्रह्म और उनकी पराशक्ति दोनों परमतत्त्व के ही दो आयाम हैं। वो ही एक परमतत्व विविध रूप धारण करके विविध कार्य सम्पन्न करते हैं। रामकृष्ण कहते हैं, "एक तत्त्व से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। वो ही निरपेक्ष ब्रह्म है। वो जो ब्रह्म है वो ही प्रधान प्रकृति है। निरपेक्ष ब्रह्म और प्रधान प्रकृति पहली दृष्टि से दो दिखते हैं, परन्तु ब्रह्म–ज्ञान के बाद दो नहीं दिखता है, तब कोई भेद नहीं रहता। "It is one without a second." (GSR : 242)

सांख्य दर्शन में पुरुष निष्क्रिय है और प्रकृति सतत क्रियाशील है। रामकृष्ण के विचार से परमतत्व एक ही है, दो नहीं है और निष्क्रियता और क्रियाशीलता ये परमतत्त्व के ही दो आयाम हैं। उनके शब्दों में, "जब परमतत्त्व सर्जक, पालक और संहारक के रूप में होते हैं तब हम उनको शक्ति कहते हैं। जब निष्क्रिय होते हैं तब उनको ब्रह्म कहते हैं। परन्तु वास्तव में वो एक और मात्र एक ही है, अखण्ड तत्व है।" (GSR : 567) सांख्य दर्शन की परिभाषा का उपयोग करते हुए वो कहते हैं कि "जो ब्रह्म है वो ही आद्यशक्ति या प्रधान शक्ति है। जब निष्क्रिय है तब ब्रह्म या पुरुष कहा जाता है। वो शक्ति या प्रकृति तब कही जाती है जब वह सर्जन, पालन और संहार में प्रवृत्त है। एक ही परमतत्व के दो आयाम हैं– पुरुष और प्रकृति। वो जो पुरुष है वही प्रकृति है।" (GSR : 321) इस तरह रामकृष्ण की पुरुष और प्रकृति विभावना सांख्य के पुरुष और प्रकृति की विभावना से भिन्न है। सांख्य में पुरुष आत्मा को कहते हैं, जबकि रामकृष्ण के मतानुसार पुरुष परमतत्त्व का एक आयाम है। उसी तरह सांख्य में प्रकृति जड़ है, जबकि रामकृष्ण के मतानुसार प्रकृति भी परमतत्त्व का ही एक आयाम है और वो ही जगत् के रूप में व्यक्त हो जाती है। रामकृष्ण कहते हैं "चिद्शक्ति, महामाया ही चौबीस तत्त्व बनते हैं।" (GSR : 291) और "प्रधान शक्ति खुद ही सृष्टि और जीवों के रूप में व्यक्त होती है।" (GSR : 343)

रामकृष्ण के मत से यही आविर्भाव और तिरोभाव है। (GSR : 320) रामकृष्ण ईश्वर को सृष्टि का तात्त्विक अधिष्ठान मानते हैं। तथापि उनका कहने का अर्थ यह नहीं है कि कोई निश्चित समय पर जगत् का *'ex nihilo'* आविर्भाव हुआ है। सांख्य की तरह रामकृष्ण सत्कार्यवाद मानते हैं और कार्य तथा कारण का तादात्म्य स्वीकारते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि किसी भी चीज की शुरुआत या आरम्भ नहीं है। जिसको सर्जन कहते हैं वह वास्तव में आविर्भाव है, जो गर्भित है उसको व्यक्त होना है। इस तरह रामकृष्ण के मतानुसार सृष्टि का सर्जन नहीं हुआ है, परन्तु महामाया में से उसका आविर्भाव हुआ है। इस तरह रामकृष्ण सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को मानते हैं। सांख्य के सत्कार्यवाद के सिद्धान्त में पुरुष से अलग जो प्रकृति उसके अस्तित्व के कारण सृष्टि की उत्क्रान्ति शक्य है, जबकि रामकृष्ण के अनुसार पुरुष (ब्रह्म) और प्रकृति (उनकी शक्ति) में तादात्म्य है। उत्क्रान्ति की प्रक्रिया समझाते हुये रामकृष्ण कहते हैं "सभी तत्त्व अन्त में आकाश में विलीन होते हैं और सर्जन के वक्त आकाश महत् में और महत् अहंकार में आविर्भाव होता है। इस तरह से समग्र सृष्टि–क्रम का आविर्भाव होता है। यही आविर्भाव और तिरोभाव की प्रक्रिया है।" (GSR : 395)

इसी तरह रामकृष्ण के अनुसार काली भी ब्रह्म से अलग नहीं है। "जो ब्रह्म है वही काली है। वही प्रधान प्रकृति है। जब वह शक्ति निष्क्रिय रहती है तब मैं उसे ब्रह्म कहता हूं और जब वह सर्जन, पालन और संहार करते हैं तब उसे मैं शक्ति या काली कहता हूं। ...ब्रह्म और काली अलग नहीं है।" (GSR : 733)

रामकृष्ण और रामानुजाचार्य के चिन्तन की तुलना :

(1) रामकृष्ण और रामानुजाचार्य दोनों सांख्य की प्रकृति से लेकर सभी तत्वों के आविर्भाव की प्रक्रिया को स्वीकारते हैं और दोनों के मत में 25वां जो पुरुष है वह अनेक पुरुषों में से एक नहीं है, परन्तु वह एक पुरुष ब्रह्म या ईश्वर है।

(2) दोनों के मत से प्रकृति के तीन गुण प्रकृति के बंधनकारी घटक नहीं है पर उनके गुणधर्म है।

3) सांख्य के अनुसार तीनों गुण साथ ही रहते हैं उनकी मात्रा भी भिन्न हो सकती है। परन्तु प्रकृति में से आविर्भाव हुए सभी तत्त्वों में वे तीनों होते ही हैं। जबकि रामकृष्ण और रामानुजाचार्य मानते हैं कि तीन गुण परस्पर से स्वतंत्र रहकर कार्य कर सकते हैं।

(4) दोनों के मत से सृष्टि के सर्जन, पालन और संहार की प्रक्रिया अनादि है।

(5) दोनों आत्मा की अनेकता को स्वीकारते हैं। उनके मतानुसार अज्ञान की वजह से आत्मा शरीर के साथ जुड़ती है। सृष्टि–पालन के समय जीव अपनी स्वतंत्र इच्छा से कर्म कर सकता है और अपने कर्म का फल भुगतता है। दोनों के मतानुसार सृष्टि के सर्जन से जीव ज्ञान, कर्म से युक्त भक्तियोग के द्वारा मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। जिन जीवों का मोक्ष नहीं हुआ है वो सब संहार के समय प्रकृति के गर्भ में वापस जाते हैं।

(6) दोनों सत्कार्यवाद मानते हैं और सृष्टि के सर्जन को, प्रकृति के गर्भ में जो है उनका, आविर्भाव ही मानते हैं।

(7) दोनों शंकर के मायावाद को नहीं मानते हैं। उनके मत से सही मायने में ग्रहण किया हुए केवल–अद्वैत में मायावाद हो नहीं सकता।

इस तरह हम देख सकते हैं रामकृष्ण और रामानुज के चिंतन में कुछ समानता है। इसी तरह शंकर से सहमत होते हुये रामकृष्ण मानते हैं कि ज्ञानी के लिये ब्रह्म में विलीन होना ही मोक्ष है। यहां ऐसा कह सकते हैं कि रामकृष्ण का केवल–अद्वैत रामानुजाचार्य के अद्वैत से समानता रखने के बावजूद ज्ञानी के मोक्ष की स्थिति के बारे में शंकर के मोक्ष के ख्याल से समानता रखते हैं।

यहां यह जानना जरूरी है कि रूप या आकार धारण करना, ये परमतत्व का एक आयाम है, परन्तु वो निराकार भी रह सकता है। रामकृष्ण के अनुसार चेतना की विभिन्न अवस्थाओं में सर्वोच्च अवस्था जो है वो 'विज्ञानी' की है जिसमें उसे

परमतत्त्व के साकार और निराकार दोनों रूपों का साक्षात्कार होता है। रामकृष्ण कहते हैं 'नेति नेति' की प्रक्रिया से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, वही बाद में सृष्टि और सब जीवित तत्वों के रूप में दिखता है। विज्ञानी देखता है कि जो निर्गुण है वही सगुण है। ब्रह्म मेरु पर्वत के समान निष्क्रिय और निश्चल है। सृष्टि तीन गुणों वाली है वो ब्रह्म ही है। परन्तु ब्रह्म बन्धन–मुक्त है।... विज्ञानी आगे देखता है कि जो ब्रह्म है वही भगवान् (सगुण साकार ईश्वर) है। जो गुणातीत है वह षडैश्वर्ययुक्त भगवान् है। जीव, सृष्टि, मन, बुद्धि, प्रेम, त्याग, ज्ञान.... ये सब उनकी (परमतत्व की) शक्ति की अभिव्यक्ति है। ईश्वर षडैश्वर्ययुक्त है।" (GSR: 103-4, 271, 400, 417, 548, 818).

रामकृष्ण और मध्वाचार्य, एन्सेल्म :

परमतत्व या ईश्वर के स्वरूप के बारे में अगत्य रखता हुआ मुद्दा यह है कि वह अनन्त है। सत्, चित, आनन्द ये तीन ईश्वर के गुण किसी भी तरह मर्यादित नहीं हैं। उसी तरह स्थल, काल और कारणता की मर्यादा भी ईश्वर में आरोपित नहीं होती है क्योंकि वो सर्वव्यापक है और अपनी शाश्वत स्वतंत्र सत्ता रख सकते हैं। रामकृष्ण में ईश्वर तमाम परिवर्तन और क्षीणता से पर है क्योंकि रामकृष्ण ईश्वर के अविनाशी और पूर्ण होने का प्रतिपादन करते हैं। मध्वाचार्य के मत से सान्त अस्तित्व की मार्यादाएं यह हैं– 1. अज्ञान, 2. परतंत्रता, 3. दुःख, 4. भौतिकता और 5. अन्य से समानता या अन्य से निम्नता (Sharma B.N.K., 1962: 235-36) जबकि ईश्वर 1. सर्वज्ञ, 2. स्वतंत्र अस्तित्व वाला, 3. मूलतः आनन्द स्वरूप, 4. अभौतिक और 5. अनन्य है। इस तरह यह स्पष्ट साबित होता है कि ईश्वर या परमतत्व सान्त अस्तित्व की तमाम मर्यादा से पर है।

एन्सेल्म के साथ सहमति दर्शाते हुये रामकृष्ण कह सकते हैं कि ईश्वर अनन्त है क्योंकि "Something than which a greater can not be conceived." सिर्फ इतने से ही रामकृष्ण रुकते नहीं हैं। रामकृष्ण परमतत्व के अनन्त होने की विभावना को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि ईश्वर अनन्त है क्योंकि हम उसे सम्पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर सकते हैं। रामकृष्ण के मत से इसी कारण शास्त्रों में परमतत्व का वर्णन 'नेति नेति' के रूप में किया गया है। इस तरह रामकृष्ण के मतानुसार 'नेति नेति' वो निषेध नहीं है, पर अनन्त का सान्त रूप में निषेध है।

रामकृष्ण के तत्त्वमीमांसकीय विचारों का वेदान्त के दो प्रमुख आचार्य– शंकर और रामानुज– के साथ तुलना करके और उनके ईश्वरविद्या सम्बन्धित विचारों को पाश्चात्य ईश्वरविद्या के सिद्धान्तों के साथ तुलना करके रामकृष्ण का तात्त्विक दृष्टिकोण इस तरह है :

1. एक ही तत्त्व ब्रह्म का प्रतिपादन करते हुये शंकर ने केवल–अद्वैत का सिद्धान्त स्थापित किया। उन्होंने त्रिविध सत्ता– प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक– का भेद दर्शाया और पारमार्थिक दृष्टि से ही ब्रह्म का अस्तित्व है ऐसा कहा। साक्षात्कार हुये आत्मा ब्रह्म से तादात्म्य रखते हैं ऐसा वो मानते हैं। इस प्रकार की साक्षात्कार की स्थिति रामकृष्ण को मान्य है। परन्तु शंकर से भिन्न रामकृष्ण आत्मा की यही स्थिति को सर्वोच्च स्थिति नहीं मानते हैं। रामकृष्ण आत्मा की ज्ञानी और विज्ञानी की स्थितियों का भेद बताते हैं। शंकर की साक्षात्कार की स्थिति को रामकृष्ण स्वीकारते हैं और उनको ज्ञानी की स्थिति कहते हैं। परन्तु रामकृष्ण के अनुसार ये स्थिति विज्ञानी की स्थिति से निम्न है। उनके मत से ज्ञानी स्थिति में ब्रह्म में विलीन होना है, परन्तु विज्ञानी ब्रह्मसाक्षात्कार करके उनके साथ प्रेमभाव युक्त सम्बन्ध रखता है। यही आत्मा की सर्वोच्च स्थिति है जहां आत्मा प्रेमभक्ति प्राप्त करता है।

2. शंकराचार्य ने जगत् को ब्रह्म का अध्यास ही माना है जबकि रामकृष्ण के अनुसार सृष्टि या जगत् मिथ्या नहीं है, परन्तु ईश्वर से अभिन्न वास्तविकता है। इस तरह रामकृष्ण जगत् की वास्तविकता स्वीकार करते हैं और साथ ही साथ जगत् का ईश्वर के साथ तादात्म्य भी मानते हैं। इसलिये जगत् को रामकृष्ण 'Mansion of mirth' कहते हैं।

3. शंकर और रामकृष्ण दोनों जीवनमुक्त की स्थिति को स्वीकारते हैं। शंकर के अनुसार जीवनमुक्त जगत् को मिथ्या मानता है जबकि रामकृष्ण के अनुसार जीवन्मुक्त जगत् ईश्वर ही है ऐसा मानकर जगत् की सेवा करता है। इस तरह जगत् में सेवा करते वक्त जीवन्मुक्त खुद को यंत्र मानता है और ईश्वर को यंत्री मानता है।

4. रामकृष्ण रामानुजाचार्य का सन्दर्भ लेते हुये ऐसा दर्शाते हैं कि वे रामानुजाचार्य से ईश्वर का सभी तत्वों से तादात्म्य मानने में सहमत हैं। परन्तु रामकृष्ण ईश्वर को रामानुज की तरह शरीरी के रूप में स्वीकार करते नहीं हैं। रामकृष्ण के मत से ईश्वर और जगत् एक ही है। उनके तात्त्विक अस्तित्व में कोई मूलभूत भेद नहीं है। इस तरह शरीर–शरीरी सम्बन्ध स्वीकारते हुये रामानुजाचार्य विशिष्ट अद्वैत सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं। रामकृष्ण केवल–अद्वैत में मान्यता रखते हैं और ऊपर देखा कि रामकृष्ण का केवल–अद्वैत शंकर के सिद्धान्त से भिन्न है क्योंकि रामकृष्ण का केवल–अद्वैत शंकर के केवल–अद्वैत को स्वीकारते हुये उनसे परे भी है। (inclusive of and higher than) इसलिये रामकृष्ण के सिद्धान्त की विशिष्टता बताने के लिये उनके सिद्धान्त को 'सर्वसमावेशक केवल–अद्वैत' कह सकते हैं।

रामकृष्ण के ईश्वरविद्या सम्बन्धित विचार :

रामकृष्ण का तत्त्वज्ञान धर्म का तत्त्वज्ञान या ईश्वरविद्या है। इसलिये पाश्चात्य ईश्वरविद्या के सिद्धान्त– Deism, Pantheism और Theism के साथ उनकी तुलना की है।

रामकृष्ण Deism के साथ सहमत हैं जो ईश्वर के पवित्रता, पूर्णता, सगुण और परत्व को मानते हैं तथापि जगत् को ईश्वर के ऊपर निर्भर मानने में रामकृष्ण Deism से अगल मान्यता रखते हैं और ईश्वर की सर्वव्यापकता, जो Deism में अनुपस्थिति है उसका रामकृष्ण के चिंतन में महत्व का स्थान है।

Pantheism की तरह रामकृष्ण ईश्वर के सर्वव्यापक स्वरूप को स्वीकारते हैं। परन्तु ईश्वर की सर्वव्यापकता का रामकृष्ण का विचार Pantheism से अलग है। Pantheism का सृष्टि की एकता और द्विव्यता का विचार रामकृष्ण स्वीकारते हैं परन्तु रामकृष्ण इतना ही नहीं मानते हैं। Pantheism के ईश्वर में 'पर' होना मुमकिन नहीं है, जबकि रामकृष्ण के अनुसार सर्वव्यापक होने के बावजूद ईश्वर सृष्टि से पर भी है। श्रीनिवासाचार्य कहते हैं "The all-God theory destroys God and the self seeks God and gives man a logical and moral holiday (Shrinivasachari, N., 1943 : 77-8)"

रामकृष्ण Pantheism के 'All is God' को अधूरा मानते हुये Theism के 'All depends on God' को स्वीकारते हैं, जो Deism और Pantheism के एक पक्षीय विचार से विरुद्ध है। उनके मत से सर्वव्यापकता (immanence) और परत्व (Transcendence) दोनों समान रूप से महत्व रखते हैं। Theism के सगुण ईश्वर के सिद्धान्त को रामकृष्ण मानते हैं परन्तु Theism की तरह सृष्टि का *'de novo'*– *'ex nihilo'* सर्जन नहीं मानते हैं बल्कि जगत् को अनादि मानते हैं।

इस तरह रामकृष्ण ने Deism, Pantheism और Theism ये तीनों सिद्धान्तों के तथ्यों को स्वीकार किया है और उसमें जो गैरसमजूति हैं उनको इन्कार किया है। यहां भी उन्होंने पाश्चात्य ईश्वरवादी सिद्धान्तों का समन्वय किया है। रामकृष्ण का सिद्धान्त इन तीनों सिद्धान्तों का समन्वय होते हुए भी उनको Deistic, Pantheistic या Theistic नहीं कह सकते। उनके सिद्धान्त को आंतरातीत ईश्वरवाद (Panentheism) कह सकते हैं, जिसकी व्याख्या करते हुये Vergilius Fern कहते हैं,

"Panentheism : (Gr. *Pan* = All; *en* = in; *theos* = God) : The term for the view that God interpenetrated everything without cancelling the relative independent existence of the world of entities; moreover, while God is immanent, this immanence is not absolute (as in pantheism); God is more than the world, transcendent in the sense that though the created is dependent upon the Creator, the Creator is not dependent upon the created. God thus is held to be the highest type of Unity, viz, Unity in

Multiplicity. The term is employed to cover a mediating position between pantheism with its extreme immanence and theism of the type which tends to extreme transcendence." Runes and others : 316).

Panentheism का ये वर्णन रामकृष्ण के सिद्धान्तों को बताता है इसलिये रामकृष्ण की ईश्वरविद्या सम्बन्धित दृष्टि को Panentheism कह सकते हैं (Yajnik, J.A., 1972: 133-4)।

इस तरह रामकृष्ण के तत्त्वज्ञान का वर्णन करते हुये हमने देखा कि तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से उनका सिद्धान्त 'सर्वसमावेशक केवल–अद्वैत' है और ईश्वरविद्या की दृष्टि से उनका सिद्धान्त Panentheism है।

व्याख्याता एवं अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग,
गुजरात विनयन और विज्ञान कॉलेज, अहमदाबाद (गुजरात)

आजीवक मंखली गोशाल का नियतिवाद

डॉ. शंभू प्रसाद सिंह

कारण–कार्य नियम या सिद्धांत के संदर्भ में दर्शन के क्षेत्र में कुछ ऐसे भी विचार मौजूद हैं जो प्रत्येक कार्य को नियत मानते हैं अर्थात् यह मानते हैं कि विश्व के सारे कार्य पूर्व से ही नियत होते हैं। इस विचार के अनुसार प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण होता है। उस घटना के कारण का भी कोई कारण होगा और इस प्रकार से यह श्रृंखला पीछे की ओर चलती जाएगी। इसका अर्थ यह होगा कि प्रत्येक कार्य कारण–कार्य की एक लम्बी श्रृंखला का परिणाम होता है और उसका सम्पन्न होना अथवा न होना उसी श्रृंखला के द्वारा निर्धारित होता है अर्थात् नियत होता है। इस प्रकार से नियतिवादी सिद्धांत यह मानता है कि विश्व के सारे कार्य निर्धारित हैं।

भारतीय परम्परा में भी कुछ नियतिवादी विचार मौजूद हैं। आजीवक सम्प्रदाय को नियतिवादी विचारों के कट्टर समर्थक के रूप में लिया जाता है।[1] इस सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य कुण्डिमायन को माना जाता है। *लोमहंस जातक* (पृ० 390) के अनुसार स्वयं बोधि भगवान् कुछ दिनों के लिए आजीवक हुए थे। इससे ज्ञात होता है कि बौद्ध एवं जैन मुनियों के साथ आजीवक भी प्रतिष्ठित एवं श्रद्धा के पात्र समझे जाते थे और बहुत से लोग मानेवाले थे। परन्तु मक्खली अथवा मंखलि गोशाल इस समुदाय के सबसे प्रमुख विचारक हैं। 'मक्खली' शब्द 'मस्करी' का ही पाली रूप है। गोबहुल ब्राह्मण की गोशाला में जन्म लेने के कारण इनका नाम गोशाल अथवा गोशालक हो गया। स्वतन्त्र रूप से भिक्षा पर ही जीवित रहने वाले साधु–संन्यासियों की तरह वे अपना जीवन व्यतीत किया करते थे। वे विशुद्ध रूप से नियतिवाद के शीर्षस्थ समर्थक थे और उनका यह मत लोगों के बीच काफी प्रचारित भी था। उनके छह शिष्यों का उल्लेख भी मिलता है, जिन्होंने उनके सिद्धान्तों का प्रचार–प्रसार करने का व्रत लिया था। जैन एवं बौद्ध ग्रंथों के अनुशीलन से पता चलता है कि गोशाल से पूर्व भी कई विचारक आजीवक मत से संबद्ध थे। इस प्रकार इनका सम्प्रदाय उस समय मगध एवं अन्य क्षेत्रों में भी फैल हुआ था और इसके बहुत सारे मतावलम्बी थे। नियतिवाद आजीवक सम्प्रदाय के

दर्शन की रीढ़ है। नियति के लिए यहाँ भाग्य शब्द का भी प्रयोग हुआ है। मंखलि गोशाल के विचार *सामंगफल सूत्त* में प्रमुख रूप से मौजूद हैं जो उनके नियतिवादी विचारों को प्रमुख रूप से दर्शाता है।

गोशाल के अनुसार नियति ही परमतत्व है और इसी के कारण इस संसार के सारे क्रिया–कलाप संचालित होते हैं। संसार में कोई भी क्रिया मनुष्यों के प्रयत्न के कारण सम्पन्न नहीं होती, बल्कि मनुष्य भी अपने सारे क्रियाकलाप नियति के वश में होकर ही करते हैं। कोई भी व्यक्ति स्वयं कुछ नहीं कर सकता। क्लेश का कोई हेतु अथवा प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु और बिना प्रत्यय के ही प्राणी क्लेश पाते हैं। बल, वीर्य एवं पराक्रम नाम की कोई वस्तु नहीं है। इसलिए कोई भी व्यक्ति स्वयं कुछ भी नहीं कर सकता है। मनुष्य भाग्य और संयोग के कारण ही सुख–दुःख भोगते हैं। प्रत्येक जीव का विकास नियति, संगति तथा भाव पर निर्भर करता है। मृत्तिकाभाण्ड नियति बल से बनते हैं, पुरुष पराक्रम से नहीं। सभी पदार्थ नियति के वशवर्ति होते हैं। जिसका जैसा होना नियत है वह वैसा ही बनता है। उसमें पुरुष–पराक्रम कुछ भी परिवर्त्तित नहीं कर सकता क्योंकि सारे भाव नियत हैं।[2] बुद्धघोष भी नियतिवादी विचारों की व्याख्या करते हुए कहते हैं,

" येन ही यथा भवितब्बम् सो तथेवभवति
येन न भवितव्बम् सो न भवतीति।"[3]

अर्थात् जिसको होना चाहिये वह उसी रूप में होगा, जिसको नहीं होना चाहिए वह नहीं होगा।

इस प्रकार से नियतिवादी विचार पूर्णरूप से भाग्यवादी कहा जा सकता है। मंखलि गोशाल मानते हैं कि मनुष्यों के सारे दुःख, कष्ट आदि उनके पूर्व कर्मों के कारण नहीं हैं बल्कि नियति के कारण हैं। गोशाल की दृष्टि में कर्म का कोई अस्तित्व नहीं है, ऐसी बात नहीं है। वे कर्म के अस्तित्व को तो स्वीकार करते हैं परन्तु उसमें किसी नैतिक बल को वे स्वीकार नहीं करते क्योंकि उनके अनुसार तप, व्रत, ब्रह्मचर्य आदि नैतिक आचरणों का कार्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। प्रत्येक मनुष्य 84 लाख महाकल्पों में परिभ्रमण करने को बाध्य होता है और प्रत्येक जीव का विकास नियति, संगति तथा भाव पर निर्भर करता है।[4] इस प्रकार से मंखलि गोशाल ने प्रत्येक वस्तु के विकास को नियति, संगति तथा भाव अथवा स्वभाव के द्वारा नियत माना है।

कुछ विचारकों ने नियतिवाद और अकारणवाद अर्थात् यदृच्छावाद को एक ही ढंग का विचार मानने की चेष्टा की है। मक्खली गोशाल ने वस्तुओं की उत्पत्ति को नियति, संगति और भाव के द्वारा नियत माना है। जयतिलके ने संगति की व्याख्या करने के क्रम में उसे यदृच्छा के साथ मिला दिया है।[5] संगति की यदृच्छा

के रूप में व्याख्या का आधार कुछ शब्दकोषों में इस शब्द के विभिन्न प्रकार के अर्थ हो सकते हैं। '*A Practiacl Sanskrit Dictionary*' में मॅकडोनेल इसके निम्नलिखित अर्थ बतलाये हैं; "Meeting with, resorting to a place, association, intercourse; alliance (rare); accidental occurrence (rare); fitness, appropriateness; connection, relation by chance, haply.[6] मोनियर– विलियम्स ने भी संगति शब्द को उपर्युक्त अर्थ में ही समझा है।[7] संगति शब्द की इन्हीं व्याख्याओं के कारण जयतिलके तथा बाशम[8] ने संभवतः नियतिवाद तथा यदृच्छावाद को मिलाने की चेष्टा की है। परन्तु बुद्धघोष तथा शिलानक ने जो संगति पद की व्याख्या की है, उससे यह नहीं लगता कि गोशाल ने नियतिवाद और यदृच्छावाद दोनों को एक ही माना है। B.C. Law ने सही ही कहा है, "Gosala maintains that everything happens according to the unalterable laws of nature, that is to say, he banishes chance from the whole of experience. He seeks to explain thing as a biologist in the light of these principles: (i) Fate (ii) Species, and (iii) Nature."[9] गौतम संघदेव ने भी *देवदहसूत्र* के अनुवाद के क्रम में संगति पद का अर्थ 'साथ आने' या 'सामंजस्य' के रूप में लिया है, आकस्मिक (यदृच्छा) के रूप में नहीं।

कुछ अन्य विचारकों ने नियतिवाद और स्वभाववाद को एक माना है। मानव–परिश्रम को अस्वीकार करना स्वभाववाद का एक आवश्यक परिणाम है। अपने स्वभाव को वश में करना अथवा उसमें कोई बदलाव करना मनुष्यों के वश में नहीं है। इस प्रकार से स्वभाववादी भी किसी कार्य के सम्पन्न होने में मानव–प्रयत्न को नियतिवादियों की तरह ही अस्वीकार करते हैं। इसलिए कुछ दार्शनिक नियतिवाद और स्वभाववाद को एक ही मानते हैं और कर्म–सिद्धांत तथा पुरुषार्थ को नहीं मानने के कारण इन दोनों को अक्रियावाद भी कहा जाता है। *महाभारत* में वर्णित स्वभाववादी विचार आजीवकों के नियतिवादी विचारों से काफी मेल रखते हैं। डेविड जे0 कलुपहाना के अनुसार "The examination of *svabhavavada* described in the *Mahabharata* confirms this and points to the close connection between materialism and Ajivika determinism.[10] परन्तु स्वभाववाद और नियतिवाद को भी बिल्कुल एक मानना सही प्रतीत नहीं होता है। इनके बीच कुछ अन्तर भी दिखता है। स्वभाववाद जहाँ मानता है कि प्राणि (जीव) का नियामक प्राणि (जीव) से भिन्न नहीं है, वहीं नियतिवाद नियामक को जीव से भिन्न मानता है। इस संदर्भ में संगति संयोग के रूप में व्यवहृत हुआ है। *सूत्तकृतांग* के अनुसार सुख–दुःख न तो स्वयंकृत है और न ही दूसरों का किया हुआ है बल्कि वह साधन के बिना ही उत्पन्न होता है जो मात्र संयोग अथवा नियतिकृत है।[11]

एक दूसरे प्रकार का नियतिवाद जैनियों के विचार में मिलता है। जैनी मानते हैं कि वर्तमान में मनुष्य जिसका भी अनुभव करता है वह सब कुछ उसके पूर्व के कर्मों के द्वारा नियत होता है और कोई भी इन कर्मफलों से बच नहीं सकता। जैनी कर्म को एक अनिवार्य कारण के रूप में लेते हैं। इसलिए वे मानते हैं कि हमारा वर्तमान पूरी तरह से हमारे भूत के कर्मों के द्वारा नियत होता है। इस घोर नियतिवादी विचार के साथ ही साथ जैनी मानव–प्रयत्न कों भी एक कारण के रूप में स्वीकार करते हैं जिसके कारण हमें जैनियों के विचारों में नियतिवादी विचार के साथ–साथ अनियतिवादी विचार की भी झलक मिलती है। इस प्रकार के नियतिवादी और अनियतिवादी विचार, दोनों को मानने का यह अर्थ प्रतीत होता है कि जैनी हमारे वर्तमान को हमारे भूतकाल के कर्मो पर पूरी तरह से आश्रित मानते तो हैं, फिर भी वे मानते हैं कि मनुष्य अपने प्रयत्न से अपने भविष्य को बदल सकता है।

इस प्रकार से मनुष्यों के कर्म नियत तो हैं, फिर भी मनुष्यों को इच्छा–स्वातंत्र्य भी है। इस प्रकार के विचार को पूर्व बौद्ध ग्रंथों में 'पूब्बेकतहेतू' के रूप में व्यक्त किया है।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि जैन दर्शन में भी नियतिवादी विचारों को स्वीकार किया गया है। परन्तु उनका नियतिवाद हूबहू वही नहीं है जो आजीविकों अथवा यू कहें कि मखंलि गोशाल का है। वी0 एन0 बरूआ के अनुसार "Mahavira appears to be in sharp antagonism with Gosala.[12] ऐसा इसलिए है कि चूंकि महावीर गोशाल की तरह से ही नैतिक दायित्व तथा इच्छा–स्वातंत्र्य को पूरी तरह से अस्वीकार नहीं करते थे। हालँाकि भगवान् महावीर ने गोशाल के द्वारा प्रतिपादित नियतिवादी विचारों का खण्डन नहीं किया।

महात्मा बुद्ध ने नियतिवादी विचार का खण्डन किया है। नियतिवादी विचार अतिवादी विचार है। यह मानता है कि हमारे सारे कार्य नियत होते हैं, अर्थात् हमारी नियति सभी कार्यों का कारण है। महात्मा बुद्ध चूंकि मध्यम मार्गी हैं इसलिए उन्होंने इन अतिवादी विचारों का खण्डन कर के मध्यम मार्ग के रूप में प्रतीत्यसमुत्पादी विचार की प्रतिस्थापना की। यह आलोचना मुख्य रूप से *मज्झिम निकाय* के *देवदह सूत्र* में की गई है। महात्मा बुद्ध तर्क देते हैं कि यदि सुख और दुःख नियति अथवा संगति के द्वारा संचालित हैं तो निगंथों की नियति अथवा संगति को अशुभ मानना होगा क्योंकि वे घोर कष्ट सहते हैं। फिर बुद्ध की नियति अथवा संगति को शुभ मानना होगा क्योंकि बुद्ध अपवित्र प्रवृत्ति से मुक्त होते हैं और इसलिए अति आनंद से युक्त होते हैं। मज्झिम निकाय में कहा गया है।

सचे ———— सत्ता संगतिभावहेतु सुखदुक्खं
पटी समवेदेन्ति अद्धा ——— निगंठा
पापसंगतिका यम इतरहि दुक्खा तिब्बा
कटुका वेदना वेदियन्ति।[13]

इसी प्रकार से *महाबोधि जातक* में भी नियतिवादी विचारों की आलोचना की गई है।

महात्मा बुद्ध ने जैनियों के नियतिवादी विचारों की आलोचना के क्रम में उनके कर्म सिद्धांतों की भी आलोचना की है। इसके साथ ही साथ उन्होंने जैनियों के ज्ञानमीमांसीय आधार की भी आलोचना की है। महात्मा बुद्ध जैनियों से पूछते हैं कि क्या उन्हें पता है कि भूतकाल में उनका अस्तित्व था और उन्होंने उस समय में क्या—क्या कार्य किये थे? जैनियों ने इसका नकारात्मक उत्तर दिया और कहा कि वे इस प्रकार के ज्ञान के लिए अपने गुरु निगंठनाथ पुत्र पर आधारित हैं।[14] इस तरह से महात्मा बुद्ध जैनियों के नियतिवादी विचारों की आलोचना करते हैं।

इस तरह उपर्युक्त प्रकार से महात्मा बुद्ध ने नियतिवाद का खण्डन किया है। महात्मा बुद्ध ने अतिवादी सिद्धांतों के विरुद्ध प्रतीत्यसमुत्पाद के रूप में मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया।

दर्शनशास्त्र विभाग, ति.माँ.भा.वि.वि., भागलपुर

संदर्भ

1. *A. L. Basham, History and Doctrines of the Ajivikas (London Luzac and Company, 1951) P.P.-224-239, K.N. Jayatilke, Early Buddhist Theory of Knowledge, George Allen and Unwin, 1963, P.P.-142 FF.*
2. *उपासक दसांग सातवां अध्याय।*
3. *सुमंगलविलासिनी, दिघ्घअथकथा, 1. 161*
4. *सुमंगलविलासिनी टीका भाग—1, पृ०—160*
5. *K. N. Jayatilke, op. cit, P. 144*
6. *A Practical Sanskrit Dictionary, ed. ByA.A. MacDonnell, Oxford University. Press, London, 1924, P. 328, Col.*
7. *A Sanskrit-English Dictionary, ed. By Moiner Williams, Oxford: The Clarendon Press, 1899, P.-1047, Col 2.2*
8. *A. L. Basham, op. cit, P.-225*
9. *B.C. Law, Buddhist Studies, Calcutta and Simla Press 1931, P. 78*
10. *D.J. Kalupahana, Causality: The Central Philosophy of Buddism, The University Press of Hawai, Honolulu, 1933, P. 40*
11. *सूत्तकृतांग, 1/1/23*
12. *B. M. Barua, A History of Pre-Buddhistic Indian Philosophy (University of Calcutta Press, Calcutta 1921) P. 394*
13. *मझिमनिकाय, 2.222*
14. *अभिधम्म कोष, 3/2*

सूफी-साधना : एक संक्षिप्त अध्ययन

डॉ. जटाधारी

जिस प्रकार भारतीय साधना का चरमलक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति है, उसी प्रकार सूफी–साधना में अहं का विसर्जन कर परमतत्त्व की प्राप्ति है। अहं के विसर्जन को 'फना' और परमतत्त्व की प्राप्ति को 'वका' कहा गया है। सूफियों ने इस बात पर जोर दिया है कि साधक (सालिक) इस संसार के भीतर ही अलौकिक सत्ता का प्रतिबिम्ब देखकर उसकी प्राप्ति के लिए साधना–मार्ग पर चले। इस साधना की पहली शर्त यह है कि वह अपने अहं का विसर्जन कर परमतत्व की ओर अग्रसर हो। सूफियों की भाषा में इसे 'फना' से 'वका' की ओर चलना कहा जाता है। फना से वका की ओर चलने की क्रिया की चार अवस्थाएँ होती हैं। ये हैं–

(1) शरीअत अर्थात् धर्म–ग्रन्थों में वर्णित आदेशों का सम्यक् रीति से पालन करना।

(2) तरीकत अर्थात् उपासना या भक्ति, जिसमें बाह्य आडंबरों से दूर रहकर हृदय की पवित्रता के द्वारा परमात्मा का ध्यान करना। जब तक साधक (सालिक) तरीकत को नहीं अपनाता, वह परमसत्ता के साथ अपना नाता जोड़ ही नहीं सकता।

(3) हकीकत अर्थात् वह अवस्था जिसमें साधक परमसत्य का सम्यक् बोध कर लेता है, जिसके कारण उसकी अन्तर्दृष्टि तत्त्वों का अन्वेषण करती है। भारतीय धर्म–साधना का यह पथ ज्ञानकाण्ड कहलाता है, जिसे दार्शनिक चिन्तन में सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है।

(4) मारफत अर्थात् सिद्धावस्था में पहुँच जाना और परमसत्ता में विलीन हो जाना।

उपर्युक्त चार अवस्थाओं को साधना–सिद्धि के चार सोपान माना गया है। सूफी–मत में सालिक (साधक) को यही सलाह दी गई है कि वह आध्यात्मिक जीवन की लक्ष्य–सिद्धि में इनका महत्त्व समझे और अत्यन्त शुद्ध आचरण के साथ साधना–पथ में अग्रसर हो। सूफी साहित्य में जायसी, कुतुबन, उसमान एवं शेख रहीम आदि प्रमुख हैं। इन कवियों ने उपर्युक्त चारों अवस्थाओं का गुणगान किया है। नीचे एक–दो उदाहरणों को प्रस्तुत किया जा रहा है –

यही शरीयत पंथ कहावै। मिला चाहै सो पहले धावै।।
पहिले पकड़ सरीयत राहाँ। पहुँचों ढांव तरीकत जहाँ।।
फेरि तरीकत नाधिकै, देखि हकीकत आप।
होय मारफत जो तुझे, वा सो होय मिलाप।। (शेख रहीम)

सूफी–मत के अनुसार परम तत्त्व की उपलब्धि का पथ–प्रदर्शन करने के लिए गुरु की आवश्यकता है। गुरु की महिमा का बखान प्रायः सभी भक्त कवियों ने किया है। कबीर ने तो उसे गोविन्द से भी बड़ा माना है। प्रायः सभी सूफी कवियों ने अपने काव्य के प्रारंभिक मंगाचरण में गुरु की वन्दना करते हुए उनके प्रति अपनी आस्था–श्रद्धा व्यक्त की है। दूसरी बात है कि सूफियों ने इस्लाम की साधना–पद्धति के अनुसार सलात (प्रार्थना), जकात (दान), सौम (उपवास) और हज (तीर्थ यात्रा) आदि कर्मकाण्डीय विधि–विधानों के सामान्य साधक के लिए उनकी उपयोगिता पर बल दिया है। वस्तुतः सभी कर्मकाण्डीय विधान आंतरिक शुद्धि के लिए बनाये गए हैं। शेख रहीम का कथन है कि प्रार्थना में हाजिर होने से तब तक कोई फल नहीं मिलता जब तक हमारी मनोवृत्तियाँ पवित्र न हों। निम्नलिखित पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं–

टहल अकारथ जाय सब। मिथ्या होय बढंत।।
हाजिर भये न फल मिले। जो रहीम मन अन्त।।
कलमै पांच पांच मन लाई। भज ले नित जो चहै भलाई।।
पांच जून हाजिर दरबारा। ठाढ़े झुके बैठि हरबारा।
फजिर जुहुर और असर बखाना। मगरिब इशाजून पहचाना।।
सांचा मन अरु दिष्टि पुनीता। यही रहीम मिलन की रीता।।

उल्लेखनीय है कि भारतीय और सूफी–साधना कई बातों में विचित्र भाव–साम्य रखती है। यथा – (1) हिन्दू–पद्धति में रामायण, गीता आदि के पाठ को जैसा महत्त्व दिया गया है वैसे ही यहाँ 'तिलबत' (कुरान का पाठ) को दिया गया है। (2) सूफी–मत में भी स्मरण–चिन्तन, कीर्तन आदि का महत्त्व है, जिन्हें क्रमशः 'जिक्र', 'फिक्र' और 'समा' कहकर व्यक्त किया गया है। (3) यहाँ भी 'मुरशिद' (गुरु) ही साधना की विघ्न–बाधाओं को दूर कर सकता है। सत्संग और प्रेम की अलौकिकता पर यहाँ भी बल दिया है। (4) इन्द्रियों का दमन और चित्तवृत्तियों का निरोध जैसी बातें भी हिन्दू धर्म के समान स्वीकार की गई हैं।

साधना का विकास–क्रमः

सूफी साधना में जीवन की सात्विक प्रवृत्तियों को बड़ा महत्त्व दिया गया है। उनके विकास का एक विशेष क्रम स्वीकार करते हुए सूफी कवियों ने बतलाया है कि जब तक साधक शरीअत के नियमों का विधिसंगत परिपालन नहीं करता, वह गुरुदीक्षा का अधिकारी नहीं हो सकता। उसकी अर्हता का परीक्षण करने के पश्चात्

ही गुरु उसे प्रेम–मार्ग का मंत्र देता है, जिसे सूफियों ने 'परमात्मा के प्रति प्रेम की चिनगारी सुलगाना' कहा है। उस चिनगारी के सुलगते ही साधक का चित्त परम–तत्त्व की प्राप्ति के लिए व्याकुल हो उठता है। शरीअत का क्षेत्र यहीं तक सीमित है। तदुपरांत तरीकत का क्षेत्र आ जाता है, जिसमें साधक सबसे पहले नफ्स या अहं–भावना के साथ जिहाद करता हुआ इन्द्रियों के द्वारा परमतत्त्व के मार्ग की ओर बढ़ता है, जिसे सूफियों ने 'तरीका' कहा है। यह तरीका ही तरीकत का मूल आधार है। इस अवस्था में साधक को अपने परम–प्राप्य के अतिरिक्त और कुछ भी नजर नहीं आता और वह भूख–प्यास, सर्दी–गर्मी और दुःख–सुख आदि प्रवृत्तियों को जीत कर 'म्वारिफ' की ओर अग्रसर होता है। उस मार्ग में उसे अनेक मुकाम अथवा पड़ाव भी पार करने पड़ते हैं जिनके नाम तोबा, जहद, सब्र, शुक्र, रियाज, तव्वकुल, रजा, मुल्ब्बत या इश्क आदि हैं। इन मुकामों से गुजरना ही साधक रियाज, तव्कुल, रजा, मुल्ब्बत या इश्क आदि है। इन मुकामों से गुजरना ही साधक की आत्मशुद्धि का हेतु है। तोबा या अनुताप मुरीद को सांसारिक भोग–कामनाओं के प्रति विरक्त बना देता है। उसी के कारण वह परमतत्त्व के प्रति अनन्य अनुरक्तिपूर्वक आकृष्ट होकर बेचैनी का अनुभव करने लगता है। सूफी–काव्यों में प्रेमाख्यानों के नायक के हृदय में परमात्मस्वरूप नायिका के प्रति प्रेम की जो विह्वलता वर्णित हुई है, वह 'तोबा' का ही काव्यमय रूप है, क्योंकि इस स्थिति में साधक को इस बात का बड़ा अनुताप होता है कि वह अपने साधना–पथ के प्रति सुदीर्घकाल तक अकर्मण्य बनकर क्यों बैठा रहा? तोबा की भावना साधक के मन में आत्मसंयम और सांसारिक विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न करती है। 'जहद' के कारण वह शनैः–शनैः अपनी भोग–कामनाओं पर नियंत्रण कर लेता है, जिससे उसके मन में सब्र या संतोष की भावना जग जाती है। 'जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान' की उक्ति के अनुसार संतोष–वृत्ति साधक के मन में उन सात्त्विक गुणों का प्रस्फुरण करती है, जिनके कारण वह धैर्यशाली बन जाता है। वह अपनी सद्वृत्तियों के संचरण के लिए अल्लाह का शुक्रगुजार बन कर उसे ही अपनी साधना का उत्प्रेरक मानता है। उसे उसके तव्वकुल अथवा अनुग्रह पर पूरा यकीन हो जाता है। वह उसकी रजा में ही अपनी रजा समझने लगता है, जिसकी चरम परिणति उसकी मुहब्बत में होती है।

सूफियों ने साधक के जिन मुकामों का हवाला दिया है, वे किसी–न–किसी रूप में सभी प्रकार के भक्ति–काव्यों में स्वीकार किये गये है। 'कबहुंक लौं यह रहनि रहौंगो' पद में गोस्वामी जी ने 'यथालाभ संतोष सदा' आदि वृत्तियों का उल्लेख करते हुए प्रभु से 'सन्त–सुभाव गहौंगो' की जो कामना की है, वह सूफियों की शरीअत और तरीकत अवस्थाओं में भी विद्यमान है। सूफी साधना में भी आत्मशुद्धि, आत्मसंयम, आत्मतोष, भगवदनुग्रह आदि तत्त्वों पर जोर देते हुए जिस प्रेम–निमग्नता

का उल्लेख किया गया है, वह भारतीय भक्ति–साधना के निकट है। इन सद्वृत्तियों के फलस्वरूप साधक 'म्वारिफ' या परम ज्ञान का अधिकारी होता है, जिसे सूफियों ने इश्क, वज्द तथा वस्ल के नाम से पुकारा है। 'मरिफत' परम–ज्ञान की वह अवस्था है जो विचारप्रसूत बुद्धि–कौशल 'इल्म' न होकर हृदय–प्रसूत 'अनुभूति' है। हृदय–शुद्धि के कारण साधक का मन परम–तत्त्व के प्रकाश को उसी प्रकार ग्रहण कर लेता है, जिस प्रकार कोई स्वच्छ दर्पण सूर्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर उसे अपने स्वरूप में धारण कर लेता है। मारिफत के संवेगपूर्ण रूप का ही नाम 'इश्क' है, जिसकी तीव्रता से स्वभावतः वज्द अर्थात् उन्माद या समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। यही साधना–मार्ग का उच्चतम सोपान है, जहाँ पहुँच कर साधक परम–तत्त्व का 'वस्ल' पाकर उसी के मिलन–सुख में लीन हो जाता है। सूफियों ने जिस 'हकीकत' का वर्णन किया है, वह साधन न होकर साधक की परम अनुभूति है, जिसकी उपलब्धि शरीअत और तरीकत के सम्यक् परिपालन से प्राप्त मारिफत के द्वारा होती है। कुछ सूफी–साधकों के मतानुसार म्वारिफ की प्राप्ति में शरीअत और तरीकत की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह तो एक प्रकार से केवल ईश्वरीय अनुकम्पा का ही सहज प्रतिफल है। भारतीय भक्ति–मार्ग में भी ईश्वर की 'अहेतुकी कृपा' का जो उल्लेख हुआ है, वह इन सूफी साधकों के अन्तर्दर्शन में भी विद्यमान है।

सूफी मत का अपनी सरल ईश्वरोन्मुखी भावना के कारण जन–समुदाय में विशेष रूप से प्रभाव पड़ता रहा और समाज के निम्न धरातल के व्यक्ति जिन्हें हिन्दू समाज में विशेष सुविधाएँ नहीं थी, इन सम्प्रदायों में दीक्षित होते रहे।

डॉ. विमल कुमार जैन ने मानना है कि सूफी मतों का पूर्ण उत्थान मुगल काल में ही हुआ। अकबर, जहांगीर आदि अनेक मुगल सम्राट पीरों के परम भक्त थे।

विद्वानों का कथन है कि अकबर भी वैचारिकतः एक सूफी था। अबुल फजल ने *आईन–ए–अकबरी* में तत्कालीन चौदह सूफी सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। समस्त सूफी सम्प्रदायों में गुरु–परम्परा और विशिष्ट बाह्याचारों का भी अन्तर था। इन सम्प्रदायों में आध्यात्मिक नेता को शेख मुरीशद या पीर कहते थे। मुसलमानों से स्वाभाविकतः इन्हें सम्मान मिलता, हिन्दू भी इनको सम्मान देते थे। कहा जाता है कि हिन्दुओं ने तलवार के आगे गरदन झुका दी थी, परन्तु तलवार से जो विश्वास नहीं उत्पन्न किया जा सकता, उस कार्य को इन सूफी संतों ने पूर्ण किया। इन सूफी संतों ने आध्यात्मिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। मृत्यु के अनन्तर इन संतों के समाधि–स्थान, दरगाह या मकबरे बने। दिल्ली, आगरा, अजमेर, फतेहपुर–सीकरी, मुल्तान, हैदराबाद आदि स्थानों पर अनेक पीरों के समाधि–स्थल और दरगाह दर्शनीय तीर्थ बने हुए हैं। इन स्थानों पर प्रायः 'उर्स' हुआ करते हैं।

हिन्दुओं में मूर्तिपूजा का प्रचार था। मुसलमानों पर भी इसका प्रभाव पड़ा। वे समाधि–स्थानों की यात्रा करने लगे। इन स्थानों पर दीप, वस्त्र, फूल, प्रसाद चढ़ावे आदि के द्वारा उन्होंने भी पीरों की पूजा शुरू की।

प्राय: मध्यकालीन धर्मों में गुरु की महत्ता का प्रतिपादन मिलता है। सूफियों के यहाँ गुरु को ईश्वर की ही तरह महत्व दिया गया है। उसे पथ–प्रदर्शक माना गया है। रामानन्दी, बल्लमी, गोरखनाथ, सूरदास, तुलसीदास आदि ने भी गुरु की महत्ता पर जोर दिया है। कबीर और उनके अनुयायियों के यहाँ भी गुरु की महत्ता का जमकर प्रतिपादन किया गया है। ईश्वर की कृपा पर सूफी और भारतीय दोनों संत विश्वास करते हैं। दारा शिकोह ने लिखा है 'वास्तव में अपने गुरु एवं ईश्वर को पाना उसी की कृपा पर अवलम्बित है। मानव के प्रयत्न पर तुलसीदास भी 'मूक की वाचालता, पंगु की गतिमानता उसी की कृपा का फल' मानते हैं। सूरदास के पुष्टि–मार्ग में भगवान का अनुग्रह ही सब कुछ है। सूफियों का भी विश्वास है कि परमात्मा ही अनुग्रह–पूर्वक प्रेम के बाण मारता है। उसने ही धरती, गगन आदि सबको प्रेम–अनुग्रह से अपनी ओर खींचा है।

जायसी ने *पद्मावत, अखरावट,* चित्र रेखा आदि में गुरु–परम्परा और गुरु–महिमा का सविस्तार गुणगान किया है। उसकी मान्यता है कि 'बिन गुरु पंथ न पाइय, भूले सो जो भेंट' (*पद्मावत* पृ. 93)। स्पष्ट है सूफी साधक का लक्ष्य है प्रियतम का साक्षात्कार और इस प्रेम–पंथ पर गुरु साधन है मार्ग–दर्शक है।' 'पेम पियाला पंथ लखावा। आपु चारिव मोहि बूंद चखावा' (*चित्ररेखा*)। गुरु की कृपा से समस्त पाप धुल जाते है। 'धेवा पाप पानि सिर मेला।' (*चित्ररेखा* पृ. 74) कबीर साहब ने गुरु गोविन्द तो एक है।' कह कर दोनों में अन्तर नहीं माना है।

सूफीमत में प्रेम का महत्व :–

सूफी साधना में 'प्रेम' का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। उनकी साधना प्रेम की साधना है, उनका साधना–मार्ग प्रेम–पंथ है, उनका साध्य प्रेम–प्रभु है, उनका एक भरोसो एक बल एक आस विश्वास प्रेम ही है। यदि सूफी साधकों को प्रेमी–साधक कहा जाय तो असंगत न होगा। सूफी चाहे जिस किसी को प्रेम का पात्र कहे, परन्तु उनका प्रियतम परमात्मा ही है। उसी प्रियतम को वे अपने प्रेम का आलम्बन मानते हैं। उसी के प्रेम में वे समस्त संसार को निमग्न देखते हैं। प्रेम ही उनका अमोघ अस्त्र है, वही उनका प्रेम–साधन है।

व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग,
संजय गांधी स्मारक महिला महाविद्यालय, शेखपुरा,
(तिलका मांझी भागलपुर वि.वि., भागलपुर)

धार्मिक एकता और उसकी प्रासंगिकता

प्रो. रवीन्द्र कुमार सिंह

जब हम धर्म का विवेचन करते हैं तो उसके विविध पक्षों का विश्लेषण करते हैं। धर्म की भाषा, धर्म की चेतना, धर्म में मान्य परमतत्त्व, धर्म के साधन, धर्म का साध्य आदि, जो धर्म के विविध पक्ष हैं, का विश्लेषण ही धर्म के अध्ययन को पूर्णता प्रदान करता है। यदि किसी को धार्मिक एकता का ज्ञान प्राप्त करना है तो निश्चित रूप से उसे सभी धर्मों के इन पक्षों को साथ रखकर देखना होगा कि उनमें एकता है या नहीं।

धर्मों की परिभाषागत एकता :

भारतीय परम्परा में धर्म को परिभाषित करते हुए कहा गया है– 'ध्रियते लोकः अनेन इति धर्मः' या धरति धारयति वा लोकम् इति धर्मः। अर्थात् जो लोक को धारण करता है वह धर्म है। लोक को धारण करने का मतलब है मानवादि जो भी इस लोक में हैं उन्हें धारण करने वाला धर्म है। 'ध्रियते यः स धर्मः' अर्थात् जिसे धारण किया जाता है वह धर्म है।

धर्म हमें धारण करता है और हम भी धर्म को धारण करते हैं। कोई धर्म देश और काल के अनुसार होता है वही व्यक्ति को धारण करता है। यदि देश और काल के अनुसार धर्म नहीं है तो वह हमें धारण नहीं करेगा। उदाहरणस्वरूप गर्म देश वालों के धर्म में यह निर्देशित है कि जो भी धर्म–कार्य है उसमें कर्ता स्नान करके शुद्ध हो जाए तब वह धर्म–कार्य में संलग्न हो। किन्तु शीत–प्रधान देश के वासिओं के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि स्नान करेंगे तो अस्वस्थ हो जाएंगे, मर भी सकते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि जो धर्म व्यक्ति के अनुकूल होता है उसे वह धारण करता है। यदि गर्म देश वालों के लिए स्नान वर्जित कर दिया जाए तो गर्मी के कारण वे जीवित नहीं रह पाएंगे। अतः वे उस धर्म को नहीं धारण करेंगे।

इस प्रकार धर्म के दो कार्य हुए– धारण करना तथा धारण होना। कोई भी धर्म है, यदि उसे धर्म माना जाता है तो धर्म के ये दोनों कार्य उस पर लागू होते हैं। अतएव हिन्दू धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, सिक्ख धर्म, पारसी धर्म, यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म, ताओ धर्म, शिन्तो धर्म, कन्फ्यूसियसवादी धर्म सभी धारण करने वाले हैं और धारण होने वाले हैं, अतः इनसे उन सब की एकता प्रमाणित होती है।

पाश्चात्य परम्परा में धर्म की परिभाषाएं कई तरह की बताई गई हैं– ज्ञानात्मक, भावनात्मक और संकल्पात्मक। हेगेल (Hegel) ने धर्म की ज्ञानात्मक परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा है– वह ज्ञान ही धर्म है जिससे व्यक्ति अपने सीमित बुद्धि के द्वारा निरपेक्ष मनस् की तत्समप्रकृति का ज्ञान करता है (Religion is the knowledge possesed by the finite of its nature as absolute mind)। श्लेयरमाखर (Schleiermacher) के अनुसार धर्म का स्तर ईश्वर पर पूर्ण निर्भरता के भाव में होता है (The essesnce of religion consists in a feeling of absolute dependence on God)। इसी प्रकार कान्ट ने धर्म के संकल्पात्मक स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि हमारे जो भी कर्तव्य हैं उन्हें दैवी आदेश के रूप में मान्यता प्रदान करना ही धर्म है (Religion is the recognition of all our duties as divine commandment)।

हेगेल के अनुसार ज्ञान धर्म है तो जितने भी धर्म हैं, चाहे वह हिन्दू धर्म हो या ईसाई धर्म हो या पारसी धर्म हो, सबके सब ज्ञान–स्वरूप माने जाएंगे अन्यथा वे धर्म की कोटि में नहीं आ पाएंगे। यदि वे सभी ज्ञान–स्वरूप हैं तो उनमें निश्चित रूप से एकता है।

श्लेयमाखर के अनुसार ईश्वर पर पूर्ण निर्भरता का भाव ही धर्म है। यदि ऐसा है तो कोई भी धर्म जो धर्म नाम से सम्बोधित होता है उसमें ईश्वर पर निर्भरता का भाव होगा ही। यदि ऐसा नहीं होगा तो धर्म नहीं होगा। हां! अनीश्वरवादी धर्मों पर यह बात लागू नहीं होगी। लेकिन जितने भी ईश्वरवादी धर्म हैं उनमें ईश्वर पर निर्भरता का भाव होगा और इस आधार पर उनमें एकता देखी जा सकती है।

इसी तरह कान्ट ने कहा है कि अपने कर्तव्य को ईश्वर का आदेश मानना ही धर्म है। अतः धर्म की कोटि में कोई भी धर्म तभी आ सकता है जब उसके कर्तव्य को ईश्वर का आदेश माना जाएगा। यदि ऐसा होगा तो उनमें एकता होगी, भले ही उन्हें अलग–अलग नामों से क्यों न जाना जाता है।

मनुस्मृति के अनुसार धर्म के दस लक्षण हैं– धैर्य, क्षमा, मनोनिग्रह, अचौर्य, शौच, इन्द्रियनिग्रह, विवेक, विद्या, सत्य एवं अक्रोध। यदि धर्म के ये सब लक्षण हैं तो जो भी धर्म नाम से सम्बोधित होगा उसमें ये सभी लक्षण होने चाहिए, अन्यथा हम उसे धर्म नहीं कहेंगे।

धार्मिक चेतनागत एकता :

जिस प्रकार किसी प्राणी में चेतना होती है जो उसकी सारी गतिविधियों को संचालित करती है, उसी प्रकार धर्म में धार्मिक चेतना होती है जो धर्म में गतिशीलता प्रदान करती है। चेतना के बिना किसी प्राणी की सत्ता नहीं हो सकती है। ठीक उसी प्रकार धार्मिक चेतना के बिना धर्म निरूपित नहीं हो सकता है। धार्मिक–चेतना

धर्म की शक्ति है, आधार है। धार्मिक–चेतना को समझने के लिए मनुष्य के मानसिक जीवन को समझना आवश्यक है, क्योंकि बिना इसे समझे धार्मिक–चेतना को नहीं समझा जा सकता है।

मानव के मनोवैज्ञानिक जीवन के मुख्य तीन पक्ष हैं– ज्ञान, भाव और संकल्प। इनसे ही व्यक्ति का व्यक्तित्व पूर्ण होता है। इनके कारण ही विभिन्न प्रकार की चेतनाएं होती हैं, जैसे– नैतिक, सामाजिक, सौन्दर्यात्मक, धार्मिक आदि। धार्मिक चेतना भी अन्य चेतनाओं की तरह होती है। इसलिए धार्मिक चेतना में भी भाव, ज्ञान और संकल्प होते हैं। जिस प्रकार नैतिक चेतना से नैतिकता का, सामाजिक चेतना से सामाजिकता का तथा सौन्दर्यात्मक चेतना से सौन्दर्य का बोध होता है, उसी प्रकार धार्मिक चेतना से धार्मिकता का बोध होता है, किन्तु धार्मिक चेतना के तीन पक्षों को लेकर धर्म–चिन्तकों में मतभेद है। कुछ लोग धर्म को भावना–प्रधान मानते हैं, कुछ लोग ज्ञान–प्रधान मानते हैं और कुछ लोग समझते हैं कि धर्म संकल्प पर आधारित होता है। किन्तु गैलवे, फ्लिन्ट, मार्टिन्यू तथा जेम्स ने जो धर्म की परिभाषाएं दी हैं उनसे यह स्पष्ट होता है कि धर्म के लिए धार्मिक चेतना का कोई एक पक्ष ही पर्याप्त नहीं होता। धर्म केवल भावना या ज्ञान या संकल्प से सम्पूर्णता प्राप्त नहीं करता है। उसे तीनों का ही समन्वित रूप चाहिए। वह भावना, ज्ञान और कर्म का समन्वित रूप होता है। गैलवे ने कहा है– 'अपने से निरपेक्ष किसी शक्ति में विश्वास धर्म है जिसमें वह अपनी संवेगात्मक आवश्यकताओं की संतुष्टि की खोज करता है तथा जीवन के स्थायित्व को प्राप्त करता है और उसको वह अपनी पूजा एवं सेवा की क्रियाओं में अभिव्यक्त करता है।' (Religion is man's faith in a power beyond himself whereby he seeks to satisfy emotional needs and gain stability of life and which he expresses in acts of worship and service. George Galloway, *The Philosophy of Religion*, p. 184.)

धर्म में प्रेम, समर्पण, विश्वास, आस्था तथा धार्मिक अनुष्ठान सभी की जरूरत होती है। ये सब मिलकर किसी धर्म की स्वस्थ परम्परा कायम करते हैं। मानव–मन के तीन तत्व (भाव, ज्ञान, संकल्प) जिस प्रकार मानव–जीवन को सुदृढ़ एवं समुचित बनाते हैं, उसी प्रकार किसी भी धर्म को धार्मिक चेतना के ये तीनों तत्व सही अर्थ में विकसित करते हैं। ये तीनों तत्व एक दूसरे के बिना अपूर्ण हैं। किसी धर्म में सिर्फ भाव–चेतना होती है, ज्ञान–चेतना तथा संकल्प–चेतना नहीं होती है ऐसा नहीं कहा जा सकता है। उसी तरह कोई ऐसा नहीं कह सकता है कि अमुक धर्म में केवल ज्ञान–चेतना है, भाव–चेतना तथा संकल्प–चेतना नहीं है अथवा संकल्प–चेतना है, भाव–चेतना और ज्ञान–चेतना नहीं है। इस प्रकार धार्मिक–चेतना के स्तर पर सभी धर्मों में एकता है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है।

धर्मों की परमतत्त्वगत एकता :

सभी धर्मों में परमतत्त्व की सर्वोपरि मान्यता होती है। हिन्दू धर्म में ब्रह्म या ईश्वर है। ईश्वर को दो तरह से विवेचित किया गया है– तत्त्वमीमांसीय दृष्टि एवं आचारमीमांसीय दृष्टि।

तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से ईश्वर सत्, चित् एवं आनन्द है, अर्थात् ईश्वर की सत्ता है, वह चेतनायुक्त है तथा आनन्द–स्वरूप है। यदि इस दृष्टि को लागू करेंगे तो क्या अन्य धर्मों में पाए जाने वाले परमतत्त्व सत्, चित्, आनन्द नहीं समझे जा सकेंगे? क्या ईसाई धर्म का गॉड, यहूदी धर्म का यहोवा, इस्लाम धर्म का अल्लाह, पारसी धर्म का अहुरमज्दा सत् नहीं हैं, क्या इन सबों की सत्ता नहीं है? क्या ये सभी चेतना–स्वरूप नहीं हैं, इन्हें चेतनाहीन तो नहीं माना गया है? साथ ही ये सभी आनन्द–स्वरूप भी है, क्योंकि इन्हें कष्ट–स्वरूप नहीं कहा गया है। जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म में सत्ता, चेतना तथा आनन्द का विरोध तो नहीं देखा जाता है। यदि कोई सत्ता को अस्वीकार कर देता है तब तो वह स्वयं कुछ कहने के लायक नहीं रह जाता है। आनन्द या परमानन्द कुछ और नहीं बल्कि मोक्ष या मुक्ति है जिसे सभी मानते हैं। अतः सत्, चित्, आनन्द सभी धर्मों में हैं जिनसे धर्मों की एकता प्रमाणित होती है।

आचारमीमांसीय दृष्टि से ईश्वर को सत्यम्–शिवम्–सुन्दरम् कहा गया है। ईश्वर सत्य है असत्य नहीं, शिवम् यानी कल्याण–स्वरूप है वह कल्याणदायी है, अनिष्टकारी नहीं, वह सुन्दर है असुन्दर या कुरूप नहीं है। यदि अन्य धर्मों की ओर दृष्टि डाली जाए तो कहा जा सकता है कि ईसाई धर्म का गॉड और इस्लाम धर्म का अल्लाह भी सत्य है, कल्याणदायी है, सुन्दर है। इसी तरह पारसी धर्म के अहुरमज्दा, यहूदी धर्म के यहोवा को भी सत्य, शिव एवं सुन्दर कहा जा सकता है। जैन तथा बौद्ध धर्म में सत्य, शिव और सुन्दर है इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है। जो धर्म है उसमें सत्य, शिव और सुन्दर यदि नहीं होगा तो वह कभी भी धर्म की कोटि में नहीं आ सकता है।

इस्लाम धर्म का अल्लाह रहीम और रहमान कहलाता है। इसी तरह हिन्दू धर्म का ईश्वर दयालु, दया का सागर आदि रूपों में जाना जाता है। ईसाई धर्म का गॉड क्या दयालु नहीं है, क्या वह निर्दयी है? ऐसा तो ईसाई धर्मानुयायी नहीं मानते हैं, क्योंकि गॉड भी परम कृपालु है, दयालु है। ईसाइयों के अनुसार ईश्वर मानव के प्रति इतनी सहानुभूति रखता है कि वह उनके सम्पूर्ण बातों को जानता है (*लूक* 12:7)। यहूदी धर्म के छठे धर्मादेश में कहा गया है– तू कभी नर–हत्या न करना।

पारसी धर्म का अहुरमज्दा कहता है कि मुझे बलि नहीं, बल्कि हृदय की भक्ति चाहिए। जैन एवं बौद्ध धर्म में दया को प्रधानता देते हुए ही अहिंसा का सिद्धान्त अपनाया गया है। अतः सभी धर्मों में दया को महत्त्व दिया है जिससे उनकी एकता प्रतिभासित होती है।

ईसाई धर्म का गॉड सर्वशक्तिमान है, सृष्टिकर्ता है। यह बात हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, यहूदी धर्म, पारसी धर्म सब में मान्य है। हिन्दू धर्म का ईश्वर सर्वशक्तिमान है और जगत् का सृष्टिकर्ता है। उसी तरह अल्लाह, अहुरमज्दा तथा यहोवा भी सर्वशक्तिमान है और सृष्टिकर्ता है। ईश्वर मात्र सृष्टि ही नहीं करता है, बल्कि विश्व का संचालन भी करता है, विश्व को धारण करता है। ये सारे कार्य गॉड, अल्लाह, यहोवा, अहुरमज्दा भी करता है। अतः हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म आदि में एकता है। पारसी धर्म का अहुरमज्दा एक है और शुभ है। उसी तरह हिन्दू धर्म का ईश्वर भी एक है, शुभ है। इसाई धर्म का गॉड, इस्लाम धर्म का अल्लाह, यहूदी धर्म का यहोवा एक है, शुभ है। शुभ की मान्यता जैन एवं बौद्ध धर्मों में भी है, यद्यपि वे ईश्वरवादी नहीं हैं। हिन्दू धर्म में परमतत्त्व को बताते हुए कहा गया है कि एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति। अर्थात् सत् एक ही है जिसे विद्वान् या पण्डित लोग अनेक नामों से पुकारते हैं। अर्थात् ईश्वर, गॉड, अल्लाह, अहुरमज्दा, यहोवा सब एक ही परम तत्त्व के विभिन्न नाम हैं। मूलतः वे सभी एक ही हैं जिनसे धर्मों की एकता समझी जा सकती है।

साध्यगत धार्मिक एकता :

प्रत्येक धर्म में एक उद्देश्य होता है, साध्य होता है। यदि गहराई से देखा जाए तो कहा जा सकता है कि सभी धर्मों के साध्य एक ही हैं। थोड़ा–बहुत यदि अन्तर होता भी है तो वह बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

भारतीय परम्परा में धर्म को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि वह लोक को धारण करता है। यदि लोक को धर्म धारण करता है तो लौकिक व्यवस्था ही उसका परम साध्य होगा। यदि लोक की सुव्यवस्था नहीं होगी तो धर्म उसे धारण कैसे करेगा? साथ ही यह भी समस्या उठ खड़ी होगी कि यदि वह लोक और समाज की व्यवस्था में असफल होगा तो लोग भी धर्म को क्यों धारण करेंगे। यदि धर्म लोक को सुव्यवस्थित नहीं रखेगा और मानव–समुदाय उसे ग्रहण नहीं करेगा तो धर्म निरर्थक समझा जाएगा। *महाभारत* के शान्तिपर्व (259/3–4) में कहा गया है कि वेद, स्मृति तथा सदाचार में धर्म का स्वरूप परिलक्षित होता है। कुछ चिन्तकों ने अर्थ को भी धर्म के चौथे लक्षण के रूप में स्वीकार किया है। शास्त्रों में धर्मानुकूल बताए कार्यों (प्रधान या अप्रधान) को सभी लोग धर्म मानते हैं। महर्षियों ने लोकयात्रा के निर्वाह के लिए धर्म की स्थापना की है अर्थात् धर्म की मर्यादा लोक–व्यवस्था या लोककल्याण में निहित है।

धर्म और धर्मावलम्बियों में पारस्परिकता का सम्बन्ध है। इसलिए धर्म लोक की व्यवस्था के लिए, लोक के कल्याण के लिए, सामान्य जन की अभिलाषाओं की पूर्ति में सहायक होता है। समान्यजन दो तरह की उपलब्धियां चाहते हैं–

1. लौकिक उपलब्धियां
2. पारलौकिक उपलब्धियां

लौकिक उपलब्धियां – लौकिक दृष्टि से प्रायः लोग कुछ समस्याओं से बचना चाहते हैं और कुछ चीजों को प्राप्त करना चाहते हैं। जिनसे लोग बचना चाहते हैं, वे त्रिताप हैं– 1. दैविक, 2. दैहिक, और 3. भौतिक। इन तीन तापों से सभी बचना चाहते हैं। कोई व्यक्ति ऐसा नहीं पाया जाता जो इनमें से किसी ताप को स्वीकार करने को तैयार हो। अतः इन कष्टों से बचना मानव–जीवन का उद्देश्य होता है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति जो कुछ प्राप्त करना भी चाहता है, वे हैं– 1. सन्तान, 2. सम्पत्ति, 3. स्वास्थ्य तथा 4. यश।

हर व्यक्ति सन्तान चाहता है, कोई भी व्यक्ति निर्धन होना नहीं चाहता है, हर व्यक्ति स्वस्थ रहना चाहता है, कोई भी व्यक्ति बीमार या रोगग्रस्त होना पसन्द नहीं करता है। सभी लोग चाहते हैं कि उनको यश मिले, प्रशंसा हो, वाह–वाही मिले। अपनी निन्दा सुनना कोई पसन्द नहीं करता है।

ऐसा धार्मिक विश्वास देखा जाता है कि धार्मिक आचार का समुचित ढंग से पालन करने से व्यक्ति त्रिविध तापों से मुक्त हो जाता है तथा सन्तान, सुख–सम्पत्ति आदि प्राप्त करता है।

पारलौकिक उपलब्धियां – पारलौकिक उपलब्धियों को इन नामों से जानते हैं– 1. नरक, 2. स्वर्ग तथा 3. मोक्ष। ये उपलब्धियां परलोक में प्राप्त होता हैं। मृत्यु के बाद व्यक्ति इन्हें ग्रहण करता है। ऐसा माना जाता है कि मरने के बाद व्यक्ति पुनः जन्म लेता है अथवा अपने कर्मानुसार नरक या स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति करता है। यद्यपि ये उपलब्धियां परलोक में होती हैं लेकिन उनके लिए जो भी उपक्रम होते हैं, वे इसी लोक में होते हैं। अपने कर्मानुसार व्यक्ति नरक पाता है या स्वर्ग पाता है। नरक तथा स्वर्ग की अवधियां निश्चित होती हैं जिन्हें समाप्त कर व्यक्ति पुनः मृत्यु लोक में आ जाता है, किन्तु मोक्ष की स्थिति सभी सुख–दुःख से परे होती है। मोक्ष प्राप्त व्यक्ति हमेशा के लिए जन्म–मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है, अर्थात् वह सदा के लिए सुख–दुःख से छुटकारा पा लेता है।

नरक, स्वर्ग एवं मोक्ष की अवधारणाएं प्रायः सभी धर्मों में हैं। जिसे हिन्दू धर्म में नरक तथा स्वर्ग कहा जाता है उसे ईसाई धर्म में हेल (Hell) तथा हेवेन (Heaven) कहा जाता है। इस्लाम धर्म में उन्हें जहनम् या दोजक और जन्नत कहते हैं। सभी धर्मों में यह माना जाता है कि सबके कर्मों का लेखा–जोखा होता है और कर्मानुसार किसी को नरक, किसी को स्वर्ग तथा किसी को मोक्ष–प्राप्ति होती है। मोक्ष भी प्रायः सभी धर्मों में है। हिन्दूधर्म में जिसे मोक्ष और मुक्ति कहते हैं उसे ही बौद्ध धर्म में निर्वाण कहते हैं। ईसाई धर्म में मोक्ष के लिए लिबरेसन (Liberation) शब्द का व्यवहार किया जाता है।

हिन्दू धर्म के अद्वैत वेदान्त में तथा इस्लाम धर्म के सूफी सम्प्रदाय में यह माना जाता है कि मुक्तावस्था अद्वैत की स्थिति है। किन्तु सामान्य ढंग से मोक्ष का

मतलब है जन्म–मरण के बन्धन से मुक्त हो जाना। प्रायः सभी धर्मों में यह माना जाता है कि हमेशा के लिए सुख–दुःख से मुक्त हो जाना ही जीवन की सबके बड़ी उपलब्धि है, मानव–जीवन की सफलता है। अतः इस दृष्टि से भी सभी धर्मों में एकता है।

साधनगत धार्मिक एकता :

सभी धर्मों में जो साध्य या उद्‌देश्य माने गए हैं उनकी पूर्ति के लिए विभिन्न साधनों का भी विधान किया गया है। यदि साधन न हो तो कोई भी साध्य कल्पना का विषय बनकर रह जाएगा। अतः सभी धर्मों में साध्य बताए गए हैं और वे प्रायः एक जैसे ही हैं, यदि भेद है तो मात्र शब्दों का।

साधन के निम्न तीन रूप प्रमुख एवं प्रसिद्ध हैं– 1. भक्ति, 2. ज्ञान, 3. कर्म। ये तीनों भक्तिमार्ग, ज्ञान–मार्ग, कर्म–मार्ग के नाम से जाने जाते हैं। इन्हें ही दूसरे शब्दों में भक्तियोग, ज्ञान–योग तथा कर्मयोग कहते हैं। धर्म में चेतना होती है और चेतना के तीन प्रकार होते हैं– भाव, ज्ञान तथा संकल्प। इन्हीं तीनों से तीन साधन बने हैं। भाव से भक्तिमार्ग, ज्ञान से ज्ञानमार्ग तथा संकल्प से कर्ममार्ग। चूंकि चेतना सभी धर्मों में होती है इसीलिए उसके प्रकारों के आधार पर तीन साधनों का विकास हुआ। अतः जिस प्रकार धार्मिक चेतना धर्मों की एकता को बताती है उसी प्रकार धर्म के तीन साधन भी धर्मों की एकता पर प्रकाश डालते हैं।

भक्तिमार्ग– भक्तिमार्ग ईश्वर के प्रति समर्पण का मार्ग है। भक्तिमार्गी लोगों ने तो यह भी कहा है कि ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाना ही धर्म है। इसे प्रेममार्ग भी कहते हैं। ईश्वर से प्रेम करने वाला सब जगह ईश्वर को ही देखता है– तुलसीदास जी ने कहा है–

सियाराम मय सब जग जानी, करौं प्रणाम जोरि युगपाणी

ऐसा भी कहा गया है– हममें तुममें खड़ग खम्भ में सबमें व्यापे राम।

सबको राममय देखने वाले भक्तगण सम्पूर्ण विश्व को ईश्वरमय मानते हैं। ईश्वर ही कर्ता है एवं हर्ता होता है। अतः भक्त लोग अपने को भगवान् पर पूर्ण रूप से अवलंबित कर देते हैं–

हारिए न हिम्मत, विसारिए न नाम, जाहि विधि राखे राम ताही विधि रहिए।।

भक्त कभी ईश्वर से मिलकर एक नहीं होना चाहता है। वह सिर्फ इतना ही चाहता है कि उसे ईश्वर की निकटता प्राप्त हो ताकि वह ईश्वर का दर्शन करता रहे और उसकी सेवा में लगा रहे, उसका नाम जपता रहे।

ज्ञानमार्ग – ज्ञान–मार्ग का अनुसरण करने वाला अपने ज्ञान के आधार पर ब्रह्म या ईश्वर से अपनी निकटता नहीं, बल्कि एकता का बोध करता है। यह अपने ज्ञान के कारण ईश्वर से अपने को सम्बन्धित रखता है।

कर्ममार्ग– कर्ममार्ग का अनुसरण करने वाले विविध धार्मिक अनुष्ठानों में लगे होते हैं और ऐसा विश्वास करते हैं कि उन अनुष्ठानों की सफलता से ही ईश्वर की प्राप्ति होगी। उनका विश्वास होता है कि धार्मिक कार्यों के सम्पन्न होने पर व्यक्ति सुख–शान्ति पाता है तथा मोक्ष की प्राप्ति होती हैं।

ये तीन मार्ग नाम से अलग–अलग जाने जाते हैं किन्तु इसमें विरोध नहीं होता है। ये तीनों एक–दूसरे के पूरक हैं। बिना भक्ति के ज्ञान और कर्म, बिना ज्ञान के भक्ति और कर्म तथा बिना कर्म के भक्ति और ज्ञान सम्बन्ध नहीं है। ये तीन उस तरह हैं जैसे एक रस्सी के तीन गुने होते हैं, जो आपस में मिलकर रस्सी का रूप धारण करते हैं। ये तीन भी प्रायः सभी धर्म में देखे जाते हैं। कोई भी धर्म धर्म नहीं कहला सकता है यदि उनमें ये शक्तियां या ज्ञान या कर्म न हों क्योंकि ये धर्म में प्राण रूप में रहने वाली धार्मिक चेतना के प्रतीक हैं। अतः धर्म के तीन साधनों– भक्ति, ज्ञान और कर्म के आधार पर भी धर्मों में एकता देखी जा सकती है –

धार्मिक एकता तथा विश्वशान्ति :

विश्व आज अशान्त है क्योंकि प्रायः सभी देशों में कम या ज्यादा अपहरण, हत्या, विस्फोट हो रहे हैं। सामान्य जनता आतंकित है, कैसे जीवन व्यतीत करे! आज का मानव भौतिकता में कुछ इस तरह उलझ गया है कि उसे अपने सही मार्ग का बोध नहीं हो रहा है। आज की अशान्ति के कारणों को समझने का प्रयास करने पर सामान्यतः उसमें निम्नलिखित कारण अवगत होते हैं जिनके समाधान से यह अनुमान किया जा सकता है कि समाज से शान्ति का माहौल बन सके–

1. सामाजिक कारण
2. आर्थिक कारण
3. राजनीतिक कारण
4. धार्मिक कारण।

समाज में बहुत पहले से ऊंच–नीच के भेदभाव चले आ रहे हैं। भारतवर्ष में उच्च वर्ण और निम्न वर्ण, पश्चिम में गोरे–काले के भेद अभी मिटे नहीं हैं। यद्यपि सिद्धान्त रूप में इसके बहुत से उपचार बताए गए हैं किन्तु व्यवहार अभी उसी पुरानी गति से हो रहा है जिस गति से पहले होता था। अतः श्रेष्ठ और निम्न के भाव ने समाज को अशान्त बना रखा है। यदि इस्लाम धर्म के भाईचारा, हिन्दू धर्म का कर्म सिद्धान्त, ईसाई धर्म के प्रेम–व्यवहार को अपनाया जाए तो समाज में शान्ति आए।

विश्व की जनसंख्या दिन–प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। उसके अनुपात के आर्थिक साधनों में वृद्धि नहीं हो रही है। अतः लोग बेरोजगार हैं, बहुत से देशों में गरीबी है, तंगी है। धनी लोगों के द्वारा उनका शोषण हो रहा है। अतः लाचार होकर वे गलत मार्ग अपना रहे हैं। कुछ धनी लोग भी उन्हें गलत करने के लिए बहका रहे हैं फलतः तस्करी, अपहरण, हत्या आदि वारदात हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में हिन्दू धर्म (*गीता,* 16/12), जैन धर्म (*सूत्रकृतांग,* 1/1/2) तथा बौद्ध धर्म (*महानिद्देसपालि,* 1/11/107) द्वारा प्रतिपादित अपरिग्रह के सिद्धान्त को अपनाया जाए तो समाज में शान्ति आ सकती है।

राजनीति नीतिविहीन को गई है। आज के राजनेता समाज की सेवा में विश्वास नहीं करते हैं, बल्कि जनता को भ्रमित करके अपनी सुख–सुविधा के लिए विविध साधनों को एकत्रित करने में लगे हुए देखे जाते हैं। जो बड़े और शक्तिशाली राष्ट्र हैं, वे कमजोर और गरीब राष्ट्रों पर अपना वर्चस्व कायम करना चाहते हैं। वे यह नहीं चाहते हैं कि विश्व शान्त रहे, क्योंकि जब विश्व अशान्त रहता है तो उन्हें अपनी ताकत को प्रदर्शित करने का अवसर मिलता है। गांधी जी ने कहा था कि राजनीति को नीति पर आधारित होनी चाहिए। उनसे बहुत पहले ग्रीक दार्शनिक प्लेटो ने कहा था कि राजा को दार्शनिक या दार्शनिक को राजा होना चाहिए। अर्थात् राजा को ज्ञानी एवं त्यागी होना चाहिए। यदि आज प्लेटो की बात को अमल में लाया जाए तो आशा की जा सकती है कि विश्व में शान्ति आ जाए।

धर्म लोक को धारण करने वाला माना जाता है। लोक–कल्याण ही धर्म का परम उद्देश्य है। किन्तु आज धर्म भी विश्व को अशान्त बनाने में एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। यद्यपि धर्म किसी भी हालत में मानव–जीवन को अशान्त बनाने वाला नहीं है, लेकिन जब धार्मिक तथ्यों का गलत विश्लेषण कर सामान्य लोगों को अधर्म के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया जाता है, तब धर्म संसार की अशान्ति का कारण बन जाता है।

इतना ही नहीं, सभी धर्मों के ऐसे महारथी, जो धर्म को गहराई से नहीं समझते हैं, मात्र इतना ही समझते हैं कि उनका ही धर्म सभी धर्मों में श्रेष्ठ है, उन्हें दूसरों के विरोध में उकसाया जाता है फलतः आपस में झगड़ते हैं। उससे विश्व अशान्त होता है। ऐसी स्थिति में सभी धर्मों की मौलिक एकता का बोध करना नितान्त आवश्यक है। मूलतः सभी धर्म एक ही हैं। एक ही सत् को विभिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता है। जो ईश्वर है, वही यहोवा है, वही अहुरमज्दा है। *वेद, आगम, त्रिपिटक, बाइबिल, कुरान, जेन्दअवेस्ता* – सभी अपने उपदेशों से मानव–जीवन का विकास चाहते हैं। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि वेद मानव–जीवन के कल्याण के लिए सिद्धान्त प्रतिपादित करता है और *कुरान* मानव–जीवन के ह्रास की बात करता है। जेन्दअवेस्ता जिस प्रकार मानव के कल्याण की बात करता है उसी तरह और ग्रन्थ भी मानव के उत्थान की बात प्रस्तुत करते हैं।

अतः धर्मों की एकता को स्वीकार करके आपस में एक–दूसरे से मिल–जुलकर रहना श्रेयस्कर है। इसी से समाज में शान्ति हो सकती है, विश्व में वातावरण शान्त हो सकता है। अतः धार्मिक एकता को समझकर, इसका प्रचार–प्रसार कर, इसके अनुसार ही जीवन जीना प्रासंगिक है।

आचार्य एवं अध्यक्ष, विश्वविद्यालय दर्शन विभाग,
बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

अणुव्रत का वैश्विक स्वरूप

डॉ. दीपक रंजन

वैज्ञानिक प्रगति की दृष्टि से आज विश्व अणुयुग में पहुंच चुका है, जिसमें जीवन के समस्त मूल्य और मान्यताएं बदलने वाली हैं। आज जब भी कोई आदमी शान्त भाव से विचार करता है तो उसे लगता है वह चारों ओर से समस्याओं से घिरा हुआ है। यह कोई निराशावादी चिन्तन नहीं है, अपितु एक सत्य है। विज्ञान ने जीवन को सुखी–समृद्ध और आनन्दित बनाने के लिए विपुल साधन भले ही प्रस्तुत किए हैं, पर लगता है उन साधनों का भी अपना एक घेरा बन गया है। निःसन्देह दुनिया के अधिकतम लोग आज भी धरती पर नारकीय जीवन जी रहे हैं। यह ठीक है कि आज गरीब के घर में भी बिजली की रोशनी पहुंच गयी है, पर उस रोशनी में उसे अपनी प्रभुता का नहीं, अभाव का ही अधिक एहसास हो रहा है।

भारतवर्ष सदा से सन्तों और महन्तों की भूमि रहा है। इसी कारण यहां के अणु–अणु में नैतिकता और आध्यात्मिकता के प्रति एक अभूतपूर्व आकर्षण व्याप्त है। अणुव्रत भी कोई नई चीज न होकर हमारी इसी अध्यात्म–परम्परा की एक श्रृंखलाबद्ध कड़ी है। साधक आत्म–कल्याण के लिए अपनी जीवन व्यवहार की मर्यादा के अनुसार इन नियमों को ग्रहण कर सके, इसी पुनीत लक्ष्य से अणुव्रतों की अवतारणा हुई है। उसमें धर्म या सम्प्रदाय की कोई बाधा नहीं है। यह व्यक्ति के जीवन–उत्थान का सर्वजन–व्यापी आन्दोलन है।

अणुव्रत का नाम 'अणु' और 'व्रत' इन दो शब्दों से जुड़कर बना है। यद्यपि यह शब्द जैन साहित्य से आया और उसकी अर्थयोजना जैन–श्रावक की आचार संहिता से जुड़ी है, पर नैतिकता के मामले में जैन–अजैन का विभाजन कोई अर्थ नहीं रखता। अतः अणुव्रत का अर्थ भी छोटे–छोटे व्रतों के संकल्पों के रूप में स्वीकृत हो गया। अणुव्रत के रूप में अणु का नाम काफी विश्रुत हो चुका है। अणुबम चूंकि विनाश का प्रतीक है तो अणुव्रत ने उसके विपरीत निर्माण की भूमिका का चयन कर लिया और उसने अपना एक सार्वजनिक रूप लिया। भले ही अणुव्रत की कल्पना के उदय में किसी सम्प्रदाय–विशेष की प्रेरणा काम करती रही हो, पर

जब यह आन्दोलन के रूप में सामने आया तो सभी धर्म और सम्प्रदायों के लोग इसमें शामिल हो चुके थे। उसकी भाषा इस प्रकार थी– जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, देश और भाषा का भेदभाव न रखते हुए मनुष्य मात्र को संयम को प्रेरणा करना।

जब दृष्टि सम्प्रदाय, धर्म, देश या जाति से बंध जाती है तो वहां मन सक्रिय बन जाता है और अनेक विभक्तियां खड़ी जो जाती हैं। जब अभेद दृष्टि से खड़ी होती है तो विभक्तियां मिट जाती हैं और आत्मा सक्रिय हो जाती है। अणुव्रत यदि पूरी मानवता का आन्दोलन है तो इसीलिए है कि यह मन का नहीं, आत्मा का उत्पादन है। उसने सम्प्रदाय–विकास के लिए नहीं अपितु आत्म–विकास के लिए ही अपनी देह–संरचना की है।

भौतिकता की इस अंधी दौड़ में सारा संसार इस कदर बढ़ रहा है कि उसके दुःखद परिणाम भोगता हुआ भी उस खुजलाहट से विरत नहीं हो पा रहा है, बल्कि उसी दिशा में आगे बढ़ता जा रहा है। सवाल यह है कि आखिर इसका इलाज क्या है? सुख–सुविधा छोड़ने की बात किसी के गले नहीं उतर सकती। चूंकि सभी इस दौड़ में शामिल हैं तो इसके विरुद्ध आवाज कौन उठाये? ऐसी स्थिति में वही लोग सामने आ सकते हैं, जिन्हें सारी मानवता की चिन्ता हो। भौतिकता से ग्रस्त आदमी अपने परिवार या देश की सीमा के पार नहीं जा सकता। यहीं पर आध्यात्मिक नेतृत्व की बात सामने आती है। शब्द भले ही अध्यात्म की जगह दूसरा भी आ जाये, पर भाव–भूमि उसकी यही रहेगी कि पूरी मानवता के प्रति समर्पित हो।

यों आज अध्यात्म के नाम पर भी अनेक दुकानदारियां चल रही हैं। कहीं यह बिल्कुल रूढ़िग्रस्त है तो कहीं बिल्कुल उन्मुक्त। यद्यपि अध्यात्म का मूल केन्द्र व्यक्ति ही है, पर जब तक व्यक्ति समस्त की चेतना से नहीं जुड़ जाता तब तक वह पूरा आध्यात्मिक नहीं हो सकता। आज यही तो हो रहा है। धर्म के लोगों ने अध्यात्म को परलोक के साथ जोड़कर उसे वर्तमान की समस्याओं से विरत कर दिया। अणुव्रत का मानना है कि मोक्ष किस काम का जो हमारे इस जीवन को शान्त न बना सके? पर साथ ही साथ हमें इस बात से भी सचेत रहना होगा कि शान्ति अन्ततः पदार्थ में नहीं है। पर यदि उसके साथ अध्यात्म नहीं जुड़ा तो, जैसा कि आज हो रहा है, उससे मनुष्य अधिक अशान्त बन जाएगा। अणुव्रत स्वार्थ और परार्थ के अतिवाद से बचकर एक समन्वित भूमिका प्रस्तुत करता है। वह व्यक्ति और समष्टि के बीच एक सन्तुलन बनाने का प्रयास है। यहीं वह धर्म और नैतिकता से जुड़ जाता है। नैतिकता का सवाल आज का अहं सवाल हो सकता है कि कुछ लोग अनैतिक होकर भी अपनी आकांक्षाएं पूरी कर लेते हैं। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उससे राष्ट्र निर्बल होता है। इसलिए अणुव्रत आन्दोलन ने नैतिकता की आवाज उठायी है। यह आवाज किसी धर्म–सम्प्रदाय की आवाज नहीं अपितु मानव–धर्म की आवाज है। एक आवश्यक प्रश्न उठ सकता है कि क्या आवाज उठाने मात्र से

अनैतिकता मिट जाएगी? सवाल ठीक भी है, ठीक नहीं भी है। आवाज में इतनी ताकत होती है कि बड़े–बड़े सिंहासन हिल सकते हैं, यदि वह नैतिक व्यक्ति द्वारा उठायी गयी हो। आचार्य तुलसी एक अकिंचन एवं परिव्राजक संन्यासी के साथ विचार–मनीषी भी थे इसीलिए वे अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्त्तन कर पाए।

लोग यह भी प्रश्न उठाते हैं कि क्या अणुव्रत समाज में कोई परिवर्तन कर सकता है? निश्चय ही अणुव्रत ने एक ऐसा वातावारण बनाया है कि जहां नैतिक मूल्यों के प्रति सर्वत्र मौन छाया हुआ था, अणुव्रत आन्दोलन उस मौन को तोड़ रहा है। आचार्य तुलसी का कहना है "अनैतिक आचरण अवश्य ही बुरा है, पर नैतिकता के प्रति श्रद्धा का डोल जाना उससे भी ज्यादा बुरा है।" नैतिकता के प्रति अश्रद्धा क्यों उत्पन्न होती है, इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं– वह हमारी मानसिक कमजोरी तो है ही, पर जब आदमी बड़े–बड़े लोगों को अनैतिक आचरण करते देखता है, उन्हें फलता–फूलता देखता है तो उसका विश्वास खण्डित हो जाता है। अतः इस बात की आवश्यकता है कि सभी स्तर के लोग नैतिकता का पालन करें।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि शासन को सजग करने के लिए अणुव्रत के जितने प्रयास हुए हैं उन्हें और तेज करने की आवश्यकता है। हजारों–लाखों लोगों को व्यसन–मुक्त बनाकर अणुव्रत ने उनके जीवन में आशा की एक नई लहर पैदा की है। अस्पृश्यता के विरुद्ध मोर्चा लगाने में अणुव्रत–आन्दोलन अनेक सम्प्रदायों से आगे है। सामाजिक कुरीतियों को मिटाने में अणुव्रत ने एक हद तक सफलता प्राप्त की है। ऐसे रूढ़िग्रस्त समाज में जहां नई समाज–व्यवस्था का प्रवेश ही निषिद्ध माना जाता था, अणुव्रत ने 'नये मोड़' के रूप में शान्ति का शंखनाद फूंका है।

विश्व–शान्ति के लिए :

यद्यपि जीने की दृष्टि से मनुष्य अकेला ही जीता है, पर उसके जीने में पूरी दुनिया का सहयोग है। अपनी प्रसन्नता–अप्रसन्नता, सफलता–असफलता का हेतु व्यक्ति होते हुए भी वह पूरी समष्टि के साथ जुड़ा हुआ है। जब भी व्यक्ति का समष्टि–भाव खण्डित होता है तो उससे देश और जाति की विभक्तियां खड़ी होती हैं। अणुव्रत सारी विभक्तियों को मिटाकर एक समष्टि–पुरुष की स्वीकृति का सूचक है।

आज जो शस्त्रों की होड़ लगी हुई है, यह इस भेद–बुद्धि का ही परिणाम है। संकीर्ण राष्ट्रीयता के नाम पर आज मनुष्य मनुष्य के विरुद्ध खड़ा है। एक राष्ट्र के लोग भी तुच्छ स्वार्थों को लेकर अपने ही भाइयों के दुश्मन बने हुए हैं, भयंकर लड़ाइयां लड़ रहे हैं। वास्तव में ये सारी लड़ाइयां स्वार्थ–प्रेरित हैं। जब तक मनुष्य इस संकीर्ण स्वार्थ पर संयम नहीं लगायेगा तब तक दुनिया पर से युद्ध के बादल नहीं छंट सकेंगे। इसी उद्‌देश्य से अणुव्रत के अन्तर्गत अहिंसा– सार्वभौम के रूप में शस्त्रों पर नियंत्रण करने के लिए अनेक शान्ति–यात्राएं भी आयोजित होती रही हैं।

अस्पृश्यता–निवारण :

मनुष्य–मनुष्य को बांटने के लिए आज अनेक प्रकार के भेद अनेक रूपों में पूरी दुनिया में काम कर रहे हैं। भारत भी रंग के नाम पर, जाति के नाम पर, प्रान्त और प्रदेश के नाम पर, धर्म के नाम पर अनेक भागों में टूटा हुआ है। धर्म तो आदमी को आदमी से जोड़ने वाली ऊर्जा है, पर आदमी ऐसा है कि उसको भी तोड़ने का हथियार बना लेता है। ऐसा ही एक मुद्दा है अस्पृश्यता या छुआछूत। सचमुच विश्व–बन्धुत्व की बात करने वाले लोगों के सिर पर यह एक बहुत बड़ा कलंक का टीका है। अपनी महत्ता को साबित करने के लिए दूसरे लोगों को हीन मानना निश्चित ही पाप है। अणुव्रत का मानना है कि इस दृष्टि से दुहरा कार्य करना होगा। एक ओर जहां अछूत समझी जाने वाली जातियों के संस्कारों को शुद्ध कर उनको हीन–भावना से मुक्त करना होगा तो दूसरी ओर अपने आपको उच्च समझने वाले लोगों के मन से घृणा के संस्कारों को दूर करना होगा।

यह सवाल किसी एक व्यक्ति, समाज या सम्प्रदाय का नहीं है। यह एक जलती हुई राष्ट्रीय समस्या है। यद्यपि महात्मा गांधी ने इस दिशा में बहुत रचनात्मक कार्य किया था, और अनेक लोग इस दिशा में काम करते रहे हैं, कर रहे हैं। पर कुछ करना शेष है। कानून बना देने मात्र से कोई समस्या हल नहीं हो जाती। इसके लिए तीव्र प्रयत्न करने की आवश्यकता है। आज भी पूरे विश्व में धर्म और जाति के नाम पर कुकृत्य हो रहे हैं, यह न केवल अशोभनीय या अभद्र है, बल्कि एक अमानवीय कार्य है।

जीवन–विज्ञान :

देश के निर्माण में सर्वाधिक महत्व भौतिक पक्ष को मानकर सरकार अपना सारा श्रम और सामर्थ्य उस दिशा में प्रवाहित करती है। किन्तु उससे कोई चैतन्य प्रकट नहीं हो सकता। आज अनेक विश्वविद्यालय, कॉलेज, स्कूल आदि के खुल जाने के बावजूद भी समस्या ज्यों की त्यों बनी है। इसलिए आवश्यकता है कि समाधान के कुछ नये क्षितिजों की खोज की जाए।

अणुव्रत वर्षों से इस खोज–यात्रा में संलग्न है। इस दृष्टि से उसका समाधायक सूत्र है– जीवन–विज्ञान। अणुव्रत का मानना है कि वातावरण भी बुराइयों का कारण है किन्तु न तो एकमात्र कारण है न ही सबसे बड़ा कारण। क्योंकि हम देखते हैं कि कठिन परिस्थितियों में भी बहुत सारे लोग अपने चरित्र को खण्डित नहीं होने देते। यदि बहुत सारे लोग परिस्थितियों के सामने झुक भी जाते हैं तो वह परिस्थितियों से निपटने का तरीका नहीं है। इस दृष्टि से अणुव्रत मनुष्य की आन्तरिक संरचना पर दृष्टिपात करता है। यदि कुछ लोग परिस्थितियों के सामने नहीं झुकते हैं तो शेष लोगों को भी ऐसा बनाया जा सकता है कि वे भी उनके सामने

सीना तानकर खड़े रह सकें। यही आंतरिक संरचना का मूल बिन्दु है। यह परिस्थिति–सुधार का निषेध नहीं अपितु आन्तरिक मजबूती से उनसे निपटने का सामर्थ्य जुटाने का प्रयत्न है।

अणुव्रत ने जीवन–विज्ञान के रूप में ऐसी ध्यान–पद्धति का विकास किया है जिसमें मनुष्य की भावधारा में निश्चित परिवर्तन हो सकते हैं। भावधारा का नियंत्रण हमारी अन्तःस्रावी ग्रन्थियां करती हैं। ध्यान तथा आसन–प्रयोगों से ग्रन्थियों के स्रावों में परिवर्तन किया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर बचपन में बच्चे की पीयूष–ग्रन्थि सक्रिय रहती है। उससे उसके जीवन में पवित्रता रहती है। ज्यों–ज्यों वह बड़ा हो जाता है, उसकी पीयूष–ग्रन्थि निष्क्रिय होती जाती है और उसकी पवित्रता खण्डित होती जाती है। यदि पीयूष–ग्रन्थि के स्राव को नियंत्रित रखा जा सके तो बच्चे की पवित्रता को कायम रखा जा सकता है। इसी प्रकार प्रेक्षाध्यान के अन्तर्गत पूरे शिक्षा क्षेत्र में जीवन–विज्ञान ने कुछ सूत्र प्रस्तुत किए हैं। आवश्यकता है उनको शिक्षा–पद्धति में मान्य किया जाय।

आज की शिक्षा–प्रणाली सरकारी व्यवस्था का एक अंग बन गयी है। यह भी सोचा जाना आवश्यक है कि शिक्षा को 'सरकार शरणं गच्छामि' बनाया जाय या उसे उसके पंजे से मुक्त किया जाए। अणुव्रत बिना किसी विवाद में उलझे अपना कार्य कर रहा है। इस दृष्टि से यह सोचा गया कि जीवन–विज्ञान को प्रायोगिक बनाने के लिए शिक्षकों की एक कमान बनायी जाय। वे लोग स्वयं इसका प्रशिक्षण प्राप्त करें तथा उसके बाद छात्रों पर भी उसका प्रयोग किया जाय।

कुछ लोगों का मानना है कि आज की शिक्षा–प्रणाली ही गलत है। किन्तु अणुव्रत का मानना है कि यदि शिक्षा–प्रणाली गलत होती तो आज इतने वैज्ञानिक, इंजीनियर, डॉक्टर आदि निकल रहे हैं, वे कैसे निकलते? अतः शिक्षा–प्रणाली गलत है, इसकी अपेक्षा यह कहना ज्यादा उपयुक्त होगा कि वह अपर्याप्त है। उसमें आन्तरिक जागरण पर कोई प्रावधान ही नहीं है। इसलिए उसमें कर्तव्य–बोध का भाव जगे भी तो कैसे? जीवन–विज्ञान कर्त्तव्य–बोध की जागृति का उपाय है। वह स्वयं शिक्षक के हित में तो है ही, पर छात्र तथा समूचे राष्ट्र की संरचना में भी एक महत्वपूर्ण उपाय है।

सर्वधर्म सद्भाव का मंच :

चूंकि अणुव्रत एक असाम्प्रदायिक आन्दोलन है, अतः इस मंच पर प्रायः सभी धर्मों के लोग एकत्र होते रहे हैं। दूसरे शब्दों में सर्वधर्म सद्भाव की दृष्टि से अणुव्रत ने एक अनुकूल वातावरण बनाने में काफी मदद की है। सन् 1958 में अणुव्रत के मंच पर सर्वधर्म सम्मेलन का आयोजन किया गया था, जिसमें अनेक धर्मों के प्रतिनिधि प्रवक्ता सम्मिलित हुए। बौद्ध धर्म के बहुचर्चित धर्मगुरु दलाईलामा ने कहा

है– धर्म के सिद्धान्तों का जीवन के दैनिक व्यवहार में अनुसरण होना चाहिए। इस दृष्टि से अणुव्रत प्रचारकों द्वारा मानव–विवेक जागृत करने का प्रयास हो रहा है। यह बहुत सुन्दर है और अणुव्रत–निष्ठा से ही सम्भव है। इसी तरह विनोबा भावे, फ्युजी गुरुजी आदि अनेक राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय संत अणुव्रत मंच पर उपस्थित होते रहे हैं और इसे बल प्रदान करते रहे हैं।

आचार्य तुलसी ने सर्वधर्म–सद्भाव की दृष्टि से एक पंच–सूत्री योजना भी प्रस्तुत की है–

1. मंडनात्मक नीति बरती जाए, अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाये। दूसरों पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किया जाए।
2. दूसरे के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।
3. दूसरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायियों के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।
4. कोई सम्प्रदाय परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न किया जाय।
5. धर्म के मौलिक तत्त्वों– सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह को जीवन–व्यापी बनाने के सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर :

राष्ट्रीय ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी अणुव्रत की गूंज–अनुगूंज होती रही है। अनेक विदेशी लोगों ने इस दृष्टि से अपने उद्गार प्रकट किए। यूनेस्को डाइरेक्टर लूथर एवांस ने एक सभा को सम्बोधित करते हुए कहा था– "संसार आज समस्याओं से उलझा हुआ है। अनेक प्रकार की समस्याएं उसके सामने हैं। यह आश्चर्य है कि हम उन्हें जानते हुए भी सुलझा नहीं पा रहे हैं। सरकारें चाहती हैं कि उनके पारस्परिक सम्बन्ध कटु न हों, कोई भी आक्रमण न करें, पर उन्हें सफल करने का कोई हल प्रस्तुत नहीं कर सकी हैं। मनुष्य एक प्रयत्नशील प्राणी है, वह हमेशा प्रयत्न करता रहता है। हम लोग युनेस्को के द्वारा शान्ति के अनुकूल वातावरण बनाने की चेष्टा कर रहे हैं। इधर अणुव्रत आन्दोलन भी प्रशंसनीय काम कर रहा है, यह खुशी की बात है। मैं इसकी सफलता चाहता हूं।" भारत में पश्चिम जर्मनी के प्रधान व्यापार सचिव हेलमुथ डीटयर ने कहा "अणुव्रत आन्दोलन का मुझ पर गहरा और काफी असर पड़ा और मैं उसका प्रशंसक बन गया।" इनके अतिरिक्त भी बहुत लोगों का सम्पर्क अणुव्रत से रहा है।

एक जीवन–दर्शन :

यह सच है कि अणुव्रत व्यक्तिगत सुधार का आन्दोलन है, पर व्यक्ति–सुधार ही तो अंततः सामूहिक सुधार की पृष्ठभूमि बनता है। यह एक उलझा हुआ सवाल

है कि मनुष्य परिस्थितियों का निर्माण करता है या परिस्थितियां मनुष्य का निर्माण करती हैं। अधिकांश लोगों का अभिमत है कि परिस्थितियां ही मनुष्य का निर्माण करती हैं। पर सचमुच वे लोग कोई भी बड़ा काम नहीं कर सकते, जो परिस्थितियों के सामने घुटने टेक देते हैं। ऐतिहासिक पुरुष वो बन जाते हैं जो परिस्थितियों की छाती को चीरकर आगे बढ़ जाते हैं। ऐसे लोग ही वीर्यवान और आत्मवान होते हैं। अणुव्रत ऐसे ही लोगों की प्रतीक्षा में है तथा इस दिशा में अपना नम्र प्रयास भी कर रहा है।

अणुव्रत एक आचार–संहिता मात्र नहीं, अपितु एक पूरा जीवन–दर्शन है। आचार–संहिता का भी अपना महत्व है। पर उसका अर्थ आदमी को केवल कुछ विधि–निषेधों में उलझाना नहीं है, अपितु उसमें सोये हुए संकल्प–शक्ति को जगाना है। जब चेतना जाग जाती है तो आदमी में इतनी ऊर्जा प्रकट हो जाती है कि हर अवरोध से लड़ने के लिए खड़ा हो जाता है।

अणुव्रत का एक नियम है कि मैं किसी पर आक्रमण नहीं करूंगा किन्तु यह वास्तव में किसी को नहीं मारने की प्रतिज्ञामात्र नहीं है, अपितु पूरे शस्त्रीकरण के विरोध में खड़े होने का संकल्प–बल है, विश्व–शान्ति के पक्ष में अपना वोट देने का प्रयास है। इस तरह अणुव्रत को केवल नियम से नहीं पकड़कर भावना से पकड़ा जाये तो निश्चय ही यह जागृति का एक आन्दोलन है।

शान्ति का सवाल जहां एक ओर विश्व–शान्ति से जुड़ा है, वहीं दूसरी ओर वह अपने व्यक्तिगत तनावों से भी जुड़ा हुआ है। वास्तव में विश्व–शान्ति को अगर कोई खतरा खड़ा होता है तो उसका मुख्य कारण तो व्यक्ति का अपना व्यक्गित तनाव ही है। आज के युग में विश्व–शान्ति की जो तीव्र आवश्यकता अनुभव की जा रही है, उसका मूल सभी देशों के व्यक्तियों के अपने–अपने तनावों में ही खोजा जा सकता है। राष्ट्रसंघ के घोषणा–पत्र में ठीक ही कहा गया है– युद्ध सबसे पहले मनुष्य के मन में फूटता है। इसलिए यदि दुनिया से युद्ध को विदा करना है तो व्यक्तियों के मन में ही शान्ति स्थापित करना होगा। उद्योगों के विकास के साथ–साथ जिस प्रकार शहरी सभ्यता उदित हुई है, उससे अशान्ति भी ज्यादा बढ़ी है। प्रतिदिन की सामान्य दिनचर्या तथा सार्वजनिक यातायात के साधनों से यात्रा या निजी साधनों से यात्रा करना भी भारी तनाव का कारण बन गया है।

ऐसी स्थिति में आदमी को तनावमुक्त करना विश्वशान्ति के लिए भी नितान्त आवश्यक हो गया है। परिस्थितियां ऐसी हो गयी हैं कि आदमी का तनाव–मुक्त होना एक असम्भव कल्पना हो गयी है। समाधान अगर है तो यही कि कोई व्यक्तिगत साधना का मार्ग खोला जाय। अणुव्रत के माध्यम से आदमी में संकल्प का उदय तो होता है पर उस संकल्प को गहरा बनाना भी नितान्त अपेक्षित है।

आदमी एक बार संकल्प करने के बावजूद भी आन्तरिक रूपान्तरण घटित नहीं होने से फिसल जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि आदमी में भावनात्मक परिवर्तन आ जाए और वह सदा के लिए बुराई से मुंह मोड़ ले। आदमी के सारे अवगुणों का सम्बन्ध अन्तःस्रावी ग्रन्थियों से है। ध्यान से अन्तःस्रावी ग्रन्थियों पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है, जिससे सभी अवगुणात्मक वृत्तियां बदल जाती हैं। अतः ऐसा लगता है अणुव्रत व्यक्ति से लेकर पूरे विश्व की समस्याओं का समाधान बनता जा रहा है।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सभी लोगों ने अणुव्रत का स्वागत किया। हर सिद्धान्त की तरह इस सिद्धान्त के विरोध में भी स्वर उठे हैं। इस सिद्धान्त को आन्तरिक और बाह्य दोनों रूपों में आलोचना का शिकार होना पड़ा, जिसे पूर्णतः सत्य नहीं कहा जा सकता है। अणुव्रत आन्दोलन के विरोधी स्वर उठने के बावजूद भी दिनों–दिन प्रगति के पथ पर आगे बढ़ता गया।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अणुव्रत आन्दोलन जीवन का संयम–दर्शन है। अणुव्रत आन्दोलन का मुख्य कार्य स्वनिष्ठता है, उसका ध्येय जीवन–शुद्धि है तथा आदर्श चरित्र का उत्कर्ष है। चरित्र–उत्कर्ष के हेतु भोग–अल्पता, परिग्रह–अल्पता और हिंसा–अल्पता है। आदर्श–प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन अणुव्रत है। कई व्यक्ति ऐसे हैं, जिनमें विचारों का स्फुरण नहीं है, उन्हें जगाने की आवश्यकता है। कई व्यक्ति जागृत हैं किन्तु उनकी गति संयम की दिशा में नहीं है, उनकी गति बदलने की आवश्यकता है। कई व्यक्ति सही दिशा पर हैं, किन्तु उनके विचार केवल विचार तक ही सीमित हैं, उन्हें सावधान करने की आवश्यकता है। मूल बात यह है कि आचार–शुद्धि की आवश्यकता है। इसके लिए विचार–क्रान्ति की आवश्यकता है। जीवन की दिशा बदलने के लिए हम सबका एक घोष होना चाहिए ''संयमो खलु जीवनम्''। इस घोष के माध्यम से अणुव्रत का यह प्रयास है कि जीवन के क्षणों में शान्ति आए जो विश्वशान्ति के लिए नितान्त आवश्यक है।

दर्शन एवं धर्म विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

संदर्भ

1. *आचार्य तुलसी : अणुव्रत के सन्दर्भ में, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चूरू (राजस्थान), प्रथम संस्करण, 1971*
2. *मुनिश्री नागराज जी : अणुव्रत विचार, मोतीलाल जैन, मंत्री अणुव्रत समिति, कानपुर, प्रथम संस्करण, 1958*

3. मुनिश्री नथमल जी : अणुव्रत दर्शन, अणुव्रत समिति 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता–1, प्रथम संस्करण, 1956.
4. मुनिश्री नागराज जी : अणुव्रत–आन्दोलन और विद्यार्थी वर्ग, अखिल भारतीय अणुव्रत समिति प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1958.
5. मुनिश्री नथमल जी : अखिल भारतीय अणुव्रत समिति प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1959.
6. मुनि सुखलाल जी : अणुव्रत एक परिचय, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन चूरू (राजस्थान) प्रथम संस्करण, 1958.
7. आचार्य महाप्रज्ञ : अणुव्रत की दार्शनिक पृष्ठभूमि.
8. महेन्द्र कुमार जैन : अणुव्रत की ओर, भाग 1 और 2, आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली, 1961.
9. आचार्य तुलसी : अणुयुग में अणुव्रत.
10. आचार्य तुलसी : अणुव्रत आवरण की ओट में.

विवेकानन्द का धर्म-दर्शन और उसकी प्रासंगिकता

डॉ. सीमा बगड़वाल

आज हम सभी भारत की दशा से भलीभांति परिचित हैं, जहाँ मनुष्य केवल अपने हित के विषय में सोचता है और उसकी सिद्धि के लिए वह अपने ही देश की जड़ों को खोखला करता जा रहा है। भौतिकता एवं विलासिता में वह नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों की अवहेलना करने लगा है। कहने का तात्पर्य है कि आज मानवीय मूल्यों का क्षरण तीव्रता से हो रहा है। विज्ञान मनुष्य को नियंत्रित करने लगा है, जिसने न केवल हमारे सोचने, समझने के तरीकों को अपितु व्यवहार को भी प्रभावित किया है। वर्तमान स्थिति में सुधार की आवश्यकता है क्योंकि इस पर यदि लगाम नहीं लगायी गयी तो यह स्थिति एक बेलगाम घोड़े के समान हो जाएगी जिसका परिणाम मानव–जाति के लिए दुःखद होगा।

आज आवश्यकता है मानवीय मूल्यों की चेतना के आधार पर विज्ञान तथा तकनीक को धर्म के द्वारा नियंत्रित तथा सृजनात्मक दिशा में निर्देशित करने की, प्रत्येक मनुष्य को संकुचित भाषा से ऊपर उठकर भारतीय संस्कृति की प्राचीन गरिमा को पुनः स्थापित करने की। विभिन्न धर्मों में सामंजस्य–विधान करना बहुत कठिन हो गया है। इसलिए आज की सर्वप्रमुख आवश्यकता एक ऐसे विश्व–धर्म की है जिसमें वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना हो। वर्तमान की इस जटिल समय में विवेकानन्द के धर्म–दर्शन की अवधारणा कितनी प्रासंगिक है, इस प्रस्तुतिकरण में इसे जानने का प्रयास किया गया है।

'धर्म' शब्द से कौन व्यक्ति है जो परिचित नहीं है? यह ऐसा शब्द है जिसका हम अपने दैनिक जीवन में प्रायः प्रयोग करते हैं। प्राचीन काल से धर्म का हमारे जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। धर्म मनुष्य की विशेष मनोदशा या अभिवृत्ति है। यह अभिवृत्ति मनुष्य–जीवन के सभी पक्षों को प्रभावित करती है। इस अभिवृत्ति का विषय एक ऐसी आदर्श अलौकिक सत्ता है जो समस्त मूल्यों, सद्‌गुणों तथा असीम शक्ति से परिपूर्ण है। संवेग, भावना या अनुभूति धर्म का अनिवार्य तथा प्रमुख पक्ष है। धर्मपरायण व्यक्ति केवल आस्था के आधार पर इस अलौकिक तथा विशेष स्वरूप को स्वीकार करता है।

धर्म के सम्बन्ध में विवेकानन्द का कहना है कि धर्म के स्वरूप को समझने के लिए धार्मिकता को समझना आवश्यक है। धार्मिकता धर्मबोध है, धार्मिक–चेतना है। यह वह विशेष प्रकार की आन्तरिक अनुभूति है, जिसकी हर प्रकार की अभिव्यक्ति धर्म का स्वरूप स्पष्ट करती है। अतः धर्म के स्वरूप को समझने का अर्थ इस अनुभूति का विश्लेषण है। धार्मिकता में अनिवार्यतः दैविक तथा अतिप्राकृतिक अंश रहते ही हैं। यह दैविक अंश एक व्यक्तिपूर्ण ईश्वर हो सकता है, निरपेक्ष सत् हो सकता है, कोई अतिप्राकृतिक नियम हो सकता है। धर्म की विशिष्टता इस बात में है कि वह इसी प्रकार के किसी विषय की चेतना को उन्मुख करता है। विवेकानन्द यह भी कहते हैं कि धर्म केवल इन्द्रियों की सीमा से ऊपर उठने का प्रयत्न नहीं करता बल्कि वस्तुतः इसका लक्ष्य बौद्धिक विवेचनाओं से भी ऊपर उठने का है।

विवेकानन्द के अनुसार यह संसार इन्द्रियों, बुद्धि और युक्ति सभी की ओर से अनन्त, अज्ञेय और अज्ञात से परिसीमित है। यह अनन्तता ही हमारी खोज है। इसी में अनुसंधान के विषय हैं, तथ्य हैं और इसी से प्राप्त होने वाले प्रकाश को संसार धर्म कहता है। उनके अनुसार धर्म कहीं बाहर से नहीं आता बल्कि व्यक्ति के अभ्यन्तर से उदित होता है। धार्मिक विचार मनुष्य की रचना में ही सन्निहित हैं क्योंकि चाहकर भी मनुष्य धर्म का त्याग तब तक नहीं कर सकता जब तक उसका शरीर है, मन है, मस्तिष्क है, जीवन है। जब तक मनुष्य में सोचने की शक्ति रहेगी, तब तक यह संघर्ष चलता ही रहेगा और तब तक किसी न किसी रूप में धर्म रहेगा ही। इस तरह विश्व में हमें धर्म के विभिन्न रूप मिलते हैं। विवेकानन्द ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "धर्म संपूर्ण मानव में परिव्याप्त है, न केवल वर्तमान में, अपितु भूत और भविष्य में भी। अतः हम उसे शाश्वत आत्मा का शाश्वत ब्रह्म से शाश्वत सम्बन्ध कह सकते हैं।"[1] मानव–जाति के भाग्य–निर्माण में जितनी शक्तियों ने योगदान दिया है और दे रही हैं, उन सबमें धर्म के रूप में प्रकट होने वाली शक्ति से अधिक महत्वपूर्ण कोई नहीं है।

विवेकानन्द धर्म की व्याख्या करते हुए कहते हैं, "हम सब धर्मों में निम्न सत्य से उच्च सत्य की ओर जाते हैं। संपूर्ण सृष्टि के पीछे एक एकता है, पर मनों में बड़ी विविधता है। वह जो है, एक है, ज्ञानी उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं। मेरा तात्पर्य यह है कि हम छोटे सत्य से बड़े सत्य की ओर बढ़ते हैं। निम्नतम धर्म केवल सत्य के निम्न पाठ मात्र हैं। हम धीरे–धीरे समझते हैं। शैतान की उपासना भी चिरंतन सत्य और अनन्त ब्रह्म का ही विकृत पाठमात्र है।"[2] विवेकानन्द धर्म को भी एक विज्ञान समझते थे। जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान भौतिक जगत् के नियमों का अनुसंधान करता है, उसी प्रकार धर्म नैतिक एवं तात्विक जगत् के आन्तरिक नियमों का अन्वेषण करता है। दोनों ही अपने–अपने ढंग से मनुष्य–जगत् के मोक्ष के द्वार प्रशस्त करते हैं। एक दृष्टिकोण से सभी ज्ञान धर्म हैं और दूसरी दृष्टि से सभी ज्ञान विज्ञान हैं।

विवेकानन्द के अनुसार धर्म का एक ही स्वरूप सभी के लिए उपयुक्त नहीं होगा। वे कहते हैं, "सभी धर्म एक सूत्र में पिरोये मोतियों के समान हैं। हम लोगों को अन्य सब बातों को अलग रखते हुए सभी में व्यक्तित्व को खोजने की चेष्टा करनी चाहिए। मनुष्य किसी धर्म में जन्म नहीं लेता, उसका धर्म तो उसकी आत्मा में सन्निहित है। कोई पद्धति, जिससे व्यक्तिगत विशेषता का नाश होता है, वह अंततोगत्वा विनाशक सिद्ध होती है। हर जीवन में एक धारा प्रवाहित हो रही है, और वही उसे अन्त में ईश्वर को प्राप्त करा देगी। हर एक धर्म का लक्ष्य तथा साध्य भगवत्प्राप्ति ही है।"[3] एक अन्य प्रसंग में विवेकानन्द ने कहा है, "धर्म एक ही है, परन्तु इसकी साधना में अनेकता होनी ही चाहिए। अतएव सभी अपना–अपना संदेश तो दें परन्तु दूसरे धर्मों में कोई त्रुटि न देखें।"[4]

विवेकानन्द के विचार में "धर्म केवल सिद्धान्त और मत की बात नहीं है। तुम क्या पढ़ते हो अथवा किस मत में विश्वास रखते हो, यह उतना महत्व नहीं रखता जितना यह कि तुम अनुभव या व्यवहार में उसे कितना लाते हो।"[5] इसे उन्होंने एक उदाहरण से समझाने का प्रयास किया है। "जो व्यक्ति धर्म के लिए केवल किताबें पढ़ता है, उसकी हालत तो उस गधे की तरह है जो पीठ पर चीनी का बोझ ढोता हुआ भी उसकी मिठास को नहीं जान पाता।"[6] इस प्रकार विवेकानन्द अन्तर्दृष्टि द्वारा मानव–हृदय में प्रवेश कर ईश्वर तथा अमरत्व सम्बन्धी सत्यों को ढूंढ निकालने को धर्म कहते हैं। विवेकानन्द के अनुसार प्रत्येक धर्म बुद्धि या तर्क से परिपुष्ट होना चाहिए। तभी वह स्थायी हो सकता है। वे कहते हैं कि यदि बौद्धिक अन्वेषण के परिणामस्वरूप कोई धर्म नष्ट हो जाता है तो वह धर्म नहीं वरन् अंधविश्वास है।

विवेकानन्द ने जगत् में जो अनेक धर्म व्याप्त हैं, उनकी अनिवार्यता बताते हुए कहा कि मनुष्य सर्वत्र अन्न ही खाता है, किन्तु देश–देश में अन्न से भोजन तैयार करने की विधियां अनेक हैं। इसी प्रकार धर्म मनुष्य की आत्मा का भोजन है, एवं देश–देश में उसके भी अनेक रूप हैं। इसलिए हमें सभी धर्मों को अपना धर्म समझना चाहिए और इसी भाव से, उन सबको हमें स्वीकार करना चाहिए। विवेकानन्द के विचार में धर्म को समाज का आधार एवं व्यक्तिगत जीवन–मार्ग दोनों रूपों में लिया गया है। उनके अनुसार धर्म मनुष्य एवं ईश्वर तक सीमित नहीं है। वह मनुष्य के सामाजिक जीवन को भी नियन्त्रित करता है।

संसार में अनेक धर्म विद्यमान हैं जिनके कारण सभी मनुष्य परस्पर संघर्ष करने वाले विभिन्न सम्प्रदायों में विभाजित हो गए हैं, जिसके कारण मनुष्यों में मतभेद, विग्रह और अशांति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसे मानव–जाति के लिए निश्चय ही वांछनीय नहीं माना जा सकता। यदि मनुष्यों के मध्य पारस्परिक सौहार्द स्थापित करना है तो विभिन्न धर्मावलंबियों में होने वाले मतभेद को समाप्त

करना आवश्यक है। वस्तुतः मानव–समाज की इसी विश्व–व्यापी आवश्यकता ने संसार के सभी धर्मों में समन्वय की स्थापना की धारणा को जन्म दिया। सर्व–धर्म समन्वय का अर्थ है किसी सामान्य तत्व अथवा किन्हीं सामान्य तत्वों के आधार पर सभी धर्मों में मूलभूत एकता जो इन धर्मों की भिन्नता के होते हुए भी इन्हें मूलतः परस्पर सम्बद्ध करती है। यह एकता निश्चय ही तर्कसंगत होनी चाहिए, किसी बाह्य शक्ति द्वारा ऊपर से थोपी हुयी नहीं। क्या संसार के सभी धर्मपरायण व्यक्तियों के लिए एक विश्व–धर्म अथवा सार्वभौम धर्म की स्थापना की कोई संभावना है या नहीं ? इसी से सम्बद्ध एक विचारणीय प्रश्न यह भी है कि यदि सर्व–धर्म–समन्वय तथा सार्वभौम धर्म की स्थापना संभव नहीं है तो विभिन्न धर्मावलंबियों में वैमनस्य को कैसे दूर किया जा सकता है? विवेकानन्द ने शिकागो में हुए विश्वधर्म सम्मेलन में आध्यात्मिकता की शक्ति को विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया। उनके धर्म सम्बन्धी विचारों में हम सर्व–धर्म समन्वय का दर्शन करते हैं। हम देखते हैं कि अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों एवं भारतीय दर्शनों में, जिनमें काफी समय से विरोध चल रहा है, विवेकानन्द ने समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। "जैसे विभिन्न नदियां भिन्न–भिन्न स्रोतों से निकलकर समुद्र मे मिल जाती हैं, उसी प्रकार भिन्न–भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े–मेढे अथवा सीधे रास्ते से जाने वाले लोग अन्त में एक ही लक्ष्य को प्राप्त होते हैं।"[7] "इसी तरह दर्शन द्वैतवाद से प्रारंभ होकर विशिष्टाद्वैत से होता हुआ शुद्ध अद्धैतवाद में विकसित होता है।"[8]

सब धर्मों में समन्वय स्थापित करते हुए विवेकानन्द कहते हैं कि, "विश्व के सब धर्म मूलतः एक ही हैं।"[9] प्रत्येक धर्म का उद्‌देश्य ससीम में असीम का साक्षात्कार करना है। सभी धर्मों में अगर कोई एक सर्वव्यापी सत्य है, तो वह है ईश्वर को पाना।"[10] आदर्श और साधन भिन्न–भिन्न हो सकते हैं, पर मौलिक तथ्य यही है। "त्रिज्याएं हजारों हो सकती हैं, पर वे सभी एक केन्द्र–बिन्दु पर आकर मिलती हैं।"[11] वैसे ही विभिन्न धर्म पृथक्–पृथक् प्रतीत होते हैं फिर भी सबका मूल उद्‌देश्य परमतत्व है। विवेकानन्द के अनुसार धर्म का तात्पर्य किसी मत–विशेष या सम्प्रदाय–विशेष से नहीं है। उन्होंने धर्म को मन, बुद्धि से परे और प्रत्यक्षानुभूति से अभिन्न बतलाया।[12]

विवेकानन्द को एक ही धर्म को सबके लिए ठीक समझना इस पर आपत्ति है। वे कहते हैं कि यद्यपि मूलतः सभी धर्म एक ही हैं, तो भी विभिन्न देशों की विभिन्न परिस्थितियों के कारण उनके बाह्य रूप में भिन्नता आ ही जाती है और जहाँ तक बाह्य स्वरूप का सम्बन्ध है, हममें से प्रत्येक को अपना–अपना व्यक्तिगत धर्म चुनना आवश्यक है। उनका कहना है कि वास्तविक धर्म संस्था एवं सम्प्रदायों का धर्म नहीं है, वह तो वास्तविक अर्थ में सार्वभौम धर्म है। धर्म की सार्वभौमता धर्म का सार है। सार्वभौम होने का अर्थ है कि धर्म का हर अनिवार्य अंग, हर अनिवार्य विषय–वस्तु

सार्वभौम रहे। वे स्वीकार करते हैं कि हर धर्म का अपना विशिष्ट दर्शन, अपने ढंग की मिथिक गाथायें तथा अपने ढंग के धार्मिक रीति–रिवाज होते हैं और इसी भिन्नता के कारण विभिन्न धर्मों में आपसी वैमनस्य, संघर्ष होते रहते हैं। किन्तु विवेकानन्द का कहना है कि धर्म यदि वास्तविक अर्थ में सार्वभौम है तो उसे इन संघर्षो से ऊपर उठना है, उसके दर्शन, उसकी मिथिक गाथाएं, उसके धार्मिक रीति–रिवाजों आदि सभी को वास्तविक अर्थ में सार्वभौम होना है।

किन्तु प्रश्न यह है कि क्या वास्तव में धर्म का कोई सार्वभौम दर्शन, या सार्वभौम मिथक या सार्वभौम धार्मिक कर्मपक्ष संभव है, जो सभी को समान रूप में ग्राह्य एवं मान्य हो? विवेकानन्द के अनुसार धर्म सार्वभौम तभी हो सकता है जब इसका द्वार सबों के लिए खुला रहे तथा उसमें ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि वह विभिन्न संस्थाओं को सन्तुष्ट कर सके। प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या ऐसा सार्वभौम धर्म सम्भव हो सकता है ? इस पर विवेकानन्द कहते हैं कि ऐसा सार्वभौम धर्म वस्तुतः है। हम सभी धार्मिक विवादों में इतना व्यस्त रहते हैं कि सार्वभौम धर्म की उपस्थिति से भी अनभिज्ञ रहते हैं। इसलिए इसकी उपस्थिति की चेतना को जागृत करने के लिए हम सभी को धर्म सम्बन्धी विवादों से ऊपर उठना है, हम सभी को अपनी मानसिकता बदलनी है। इसके लिए तो प्रथमतः यह समझना चाहिए कि विभिन्न धर्मों में कोई मौलिक विरोध नहीं है। धर्म का जो सत्य है वह इतना व्यापक है कि हर धर्म उसी सत्य के किसी पक्ष पर ध्यान देता है और अपने आंशिक दृष्टि को पूर्ण दृष्टि समझ लेता है। यही धार्मिक विवाद का कारण है। विवेकानन्द कहते हैं कि हम एक ही सत्य को भिन्न–भिन्न ढंगों से देखते हैं। किन्तु वस्तुतः हर धर्म में निरूपित सत्य एक ही है। सार्वभौम धर्म से विवेकानन्द किसी ऐसे धर्म को सूचित नहीं कर रहे जिसका दर्शन, मिथक तथा धार्मिक कर्म सभी सार्वभौम हैं अर्थात् उनका तात्पर्य किसी ऐसे धर्म से नहीं है जिसमें सभी धर्मों के समान लक्षण समाविष्ट हैं।

विवेकानन्द कहते हैं कि हर धर्म सार्वभौम धर्म है। हम अपनी सुविधा के लिए उस धर्म की सार्वभौमता की उपेक्षा कर उसे साम्प्रदायिक बना देते हैं। वे कहते हैं कि हर धर्म सार्वभौम हो सकता है यदि हम धर्म के बाह्य रूपों पर ध्यान न केन्द्रित कर उसकी आन्तरिकता को समझें। सार्वभौम धर्म का मूलमंत्र है – स्वीकृति। वे कहते हैं कि सार्वभौमता की दृष्टि जगाने के लिए अन्य धर्मों के प्रति भावात्मक दृष्टि अनिवार्य है। यदि अपने धर्म में स्थित रहते हुए भी हम संकीर्णता से ऊपर उठ सकें, तो हमारा धर्म सार्वभौम बन जाता है।[13] विवेकानन्द कहते हैं कि सार्वभौम धर्म प्रत्येक मन को सहज रूप से स्वीकार्य होना चाहिए तथा उसमें दर्शन, भावना, कर्म, रहस्यवादिता सभी के लिए स्थान होना चाहिए। वे कहते हैं कि चारों ओर समभाव से विकास करना ही मेरे कहे हुए धर्म का आदर्श है और योग के द्वारा ही इस आदर्श धर्म को प्राप्त किया जा सकता है। जो मनुष्य कर्म के द्वारा, ज्ञान के द्वारा, भक्ति

के द्वारा तथा रहस्य के द्वारा इस योग की साधना करते हैं उन्हें क्रमशः कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, भक्तियोगी और राजयोगी कहते हैं। इन्होंने साधनों के मध्य समन्वयात्मक दृष्टिकोण स्वीकार किया जो कि जीवन को सर्वांगपूर्ण बनाने में सहायक होते हैं।

धर्म का अध्ययन अब पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक आधार पर होना चाहिए। धर्म सम्बंधी सभी संकीर्ण, सीमित धारणाओं को नष्ट होना चाहिए। संप्रदाय, जाति या राष्ट्र की भावना पर आधारित सारे धर्मों का परित्याग करना होगा। हर जाति या राष्ट्र का अपना–अपना अलग ईश्वर मानना और दूसरों को भ्रान्त कहना एक अंधविश्वास है, उसे अतीत की वस्तु हो जाना चाहिए। ऐसे सारे विचारों से मुक्ति पाना होगा।[14] वे कहते हैं कि भविष्य के धार्मिक आदर्शों को सम्पूर्ण जगत् में जो कुछ भी सुन्दर और महत्वपूर्ण है, उन सबों को समेट कर चलना पड़ेगा। अतीत में जो कुछ भी सुन्दर रहा है, उसे जीवित रखना होगा, साथ ही वर्तमान के भंडार को और समृद्ध बनाने के लिए भविष्य का विकास–द्वार भी खुला रखना होगा। ईश्वर सम्बन्धी सभी सिद्धान्तों –सगुण, निर्गुण, अनन्त, नैतिक नियम अथवा आदर्श मानव–धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत आने चाहिए और जब धर्म इतने उदार बन जायेंगे, तब उनकी कल्याणकारिणी शक्ति सौगुनी हो जायेगी। धर्मों में अद्‌भुत शक्ति है पर केवल इनकी संकीर्णताओं के कारण अक्सर इनसे कल्याण की अपेक्षा अधिक हानि ही हुयी है।[15]

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि विवेकानन्द ने समस्त धर्मों और सम्प्रदायों में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया और यह सिद्ध किया कि साम्प्रदायिकता, संकीर्णता, धर्मान्धता इत्यादि के लिए कोई स्थान नहीं है। धर्म अनुभूति की वस्तु है। आत्मा की ब्रह्मस्वरूपता को जान लेना, उसका साक्षात्कार करना यही धर्म है। विवेकानन्द के अनुसार हमारे भारतवर्ष का मेरुदण्ड धर्म है। धर्म के आधार पर हमारी जाति के जीवन का प्रासाद स्थापित है। हमें धर्म का आधार नहीं छोड़ना चाहिए।

धर्म में कोई जाति नहीं होती, जाति तो केवल एक सामाजिक रूढ़ि है। यद्यपि दिखने में हमारी जातियाँ और संस्थाएँ हमारे धर्म से जुड़ी हुयी प्रतीत होती हैं, पर वास्तव में वे ऐसी नहीं हैं।[16] सामाजिक रूढ़ियों, धर्म–संघों द्वारा प्रतिपादित आचार–संहिताओं और पुरोहित वर्ग द्वारा स्थापित कर्मकांडों को धर्म नही समझना चाहिए। वे कहते हैं कि चूँकि आध्यात्मिक स्वरूप से युक्त धर्म ही निरन्तर भारतीय जीवन का आधार रहा है, इसीलिए सभी सुधार धर्म के माध्यम से ही किये जाने चाहिए तथा उसे वर्तमान समय की आवश्यकता के अनुरूप बनाना चाहिए, तभी देश की बहुसंख्यक जनता उन्हें अंगीकर करेगी जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक एकता एवं राष्ट्रवाद का मार्ग प्रशस्त होगा। विवेकानन्द ने धर्म और विज्ञान के मध्य सामंजस्य स्थापित करने पर बल दिया तथा इस बात का प्रतिपादन किया कि इस सामंजस्य में ही विश्व का कल्याण निहित है।

वर्तमान संदर्भ में धर्म की आवश्यकता पर बल देते हुए विवेकानन्द ने कहा कि आज आवश्यकता इस बात की है कि सभी तरह के धर्म परस्पर बन्धुत्व का भाव रखें, क्योंकि उन्हें जीना है तो साथ–साथ, मरना है तो साथ–साथ। बन्धुत्व की यह भावना पारस्परिक स्नेह और आदर पर आधारित होनी चाहिए। उन्होंने सभी धर्मों की उदारता को ग्रहण करते हुए उनकी सहिष्णुता व उत्कृष्टता को विश्वशान्ति व सौहार्द के लिए आवश्यक माना।

विवेकानन्द ने राष्ट्र का पुनरुत्थान धर्म के माध्यम से ही करना चाहा। किन्तु धार्मिक अन्धविश्वास और मानव–मानव के मध्य किसी तरह के भेदभाव को कभी स्वीकार नहीं किया। इस तरह उन्होंने सच्चे मानववाद और विश्वबन्धुत्व के आदर्शों को बढ़ावा दिया। उनका धर्म मानववादी है। मानव को मानव समझना और ईश्वर समझकर उसकी सेवा करना ही सच्चा मानव–धर्म है। इस प्रकार वर्तमान समय में विवेकानन्द के विचारों की प्रासंगिकता है। आज उनकी वाणी ही विश्व–समाज को न्याय, नीति, पवित्रता के नवीन पथ पर परिचालित कर सकती है और दुनिया को वैश्वीकरण की बुराइयों से अलग करके विनाश से बचा सकती है।

जनरल फेलो, I.C.P.R., दर्शनशास्त्र विभाग,
लखनऊ विष्वविद्यालय, लखनऊ

सन्दर्भ

1. दी कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, 2009, खण्ड IV, पृ.189।
2. वही, पृ. 243।
3. विवेकानन्द साहित्य, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, 1993, द्वितीय खंड़, पृ. 252।
4. वही, पृ. 253।
5. वही, पृ. 234।
6. वही, पृ. 235,236।
7. दी कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड I, पृ. 4।
8. आत्मतत्त्व, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 1999, पृ. 21।
9. दी कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड II, पृ. 227।
10. वही, पृ. 234।
11. वही।
12. वही, खण्ड III, पृ. 01।
13. समकालीन भारतीय दर्षन, बी.के.लाल, मोतीलाल बनारसीदास, 1995, पृ. 58।
14. विवेकानन्द साहित्य, द्वितीय खंड़, पृ. 199।
15. वही, पृ. 200।
16. जाति, संस्कृति और समाजवाद, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 2005, पृ. 27।

न्याय दर्शन का "प्रत्यक्ष"- एक समीक्षात्मक अनुशीलन

डॉ. लालबाबू प्रसाद यादव

प्रत्यक्ष में "प्रति" और "अक्ष" दो शब्द हैं। साधारणतया 'अक्ष' शब्द का अर्थ आँख होता है, परंतु यहाँ इस शब्द का अर्थ–विस्तार हो गया है और इससे इन्द्रिय–सामान्य का अर्थ ग्रहण किया जाता है। यहाँ प्रत्यक्ष शब्द के विश्लेषण से पता चलता है कि प्रत्येक इन्द्रिय के अपने–अपने विषय के प्रति क्रियाशील होने से जो ज्ञान उत्पन्न हो उसे ही प्रत्यक्ष कहना चाहिए।[1] प्रत्यक्ष को साधारणतया इसी रूप में समझा गया है और प्रत्यक्ष की एक सरल परिभाषा दी गई है – इन्द्रिय और वस्तु के सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं, "इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" (*तर्क संग्रह*)। प्राचीन *न्याय सूत्र* में प्रत्यक्ष की ऐसी ही परिभाषा दी गई है।[2]

यहाँ यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति के लिए इन्द्रिय और अर्थ दोनों का रहना आवश्यक है। किन्तु दोनों के विद्यमान रहने पर भी ज्ञान की उत्पत्ति तब तक नहीं होगी जब तक दोनों से सम्बंध (सन्निकर्ष) नहीं स्थापित हो। इसीलिए उपर्युक्त परिभाषा में कहा गया है कि इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न हो उसे प्रत्यक्ष कहेंगे। उदाहरणार्थ, यदि हमें अपने सामने रखी हुई पुस्तक का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तो इसमें आँख "इन्द्रिय" है और पुस्तक "विषय"। इन दोनों में संबंध होता है जिसके फलस्वरूप हमें पुस्तक का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इस प्रत्यक्ष को प्रमाण कहने का कारण यह है कि इससे उत्पन्न पुस्तक–ज्ञान में प्रमा के तीनों लक्षण– अनुभवत्व, असंदिग्धत्व और यथार्थत्व पाये जाते हैं। पुस्तक हमारे सामने उपस्थित है, इसे हम निश्चित या असंदिग्ध रूप से पुस्तक समझते हैं। साथ ही, जिस वस्तु को हम पुस्तक समझते हैं वह सचमुच पुस्तक ही है।

प्राचीन परिभाषा का विश्लेषण :–

इस परिभाषा की विशेषता को पूरे रूप से समझने के लिए हमें इसका कुछ विस्तारपूर्वक विश्लेषण करना चाहिए। उक्त परिभाषा में चार महत्वपूर्ण पद हैं:–

1 इन्द्रिय

2 अर्थ

3 सन्निकर्ष और

4 ज्ञान।

अब हम एक–एक कर इन चारों पर विचार करेंगे।

1 इन्द्रिय :– यों तो इन्द्रियाँ दो प्रकार की मानी गई हैं– कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय। जिनके द्वारा शारीरिक क्रियाएँ सम्पादित होती हैं, उन्हें कर्मेन्द्रिय कहते हैं। जैसे – हाथ, पैर आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। जिनके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है उन्हें ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं। चूँकि प्रत्यक्ष का सम्बंध ज्ञान–प्राप्ति से है अतः यहाँ "इन्द्रिय" शब्द का प्रयोग केवल ज्ञानेन्द्रिय के लिए ही किया गया है। ज्ञानेन्द्रियों की संख्या छह है, जिनमें एक मन अन्तरिन्द्रिय है और शेष पाँच बाह्य ज्ञानेन्द्रियां हैं। ये निम्नलिखित हैं–

1. दर्शनेन्द्रिय (आँख)
2. रसनेन्द्रिय (जीभ)
3. घ्राणेन्द्रिय (नाक)
4. श्रवणेन्द्रिय (कान), और
5. त्वगिन्द्रिय (त्वचा)

इनमें क्रमशः रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श का ज्ञान होता है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि आँख, कान आदि इन्द्रियाँ नहीं हैं; ये दर्शनेन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय आदि के अधिष्ठान मात्र हैं। इन्द्रियों को सूक्ष्म शक्ति माना जाता है जो इन अंगों में अवस्थित रहती हैं। इन्द्रियों को ज्ञान अनुमान से होता है। प्रत्यक्ष द्वारा उनका ज्ञान संभव नहीं है। आँख, कान आदि सभी भौतिक हैं – जिनके निर्माण में उन्हीं तत्वों का विशेष हाथ है जिनका गुण ये ग्रहण करते हैं। उदाहरण के लिए, आँख के निर्माण में तेज या अग्नि की प्रधानता है, क्योंकि इसी के गुण रूप को यह ग्रहण करती है। इसी प्रकार जीभ, नाक, कान और त्वचा का निर्माण क्रमशः जल, पृथ्वी, आकाश और वायु की प्रधानता से हुआ है। इसके पीछे संभवतः यह सिद्धांत है कि सदृश ही सदृश से सम्बद्ध हो सकता है या उसका ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

मन अन्तरिन्द्रिय माना गया है जिससे आत्मा के सुख–दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

उपर्युक्त परिभाषा से ऐसा मालूम पड़ता है कि केवल इन्द्रिय और अर्थ (विषय) का सम्बन्ध हो जाने से ही प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति हो जाएगी। किन्तु बात ऐसी नहीं है। वस्तु का इन्द्रिय से सम्बन्ध होने पर भी तब तक ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता जब तक इन्द्रिय का सम्बंध मन से न हो और फिर मन का सम्बंध आत्मा से न हो। उदाहरण कि लिए, जिस समय हम पढ़ने में बिल्कुल तल्लीन रहते हैं उस समय यदि कोई बच्चा हमारे सामने से गुजरता है तो हमें उसका ज्ञान नहीं हो पाता है। यद्यपि हमारी आँखों से उसका सम्बन्ध होता है तथापि हमें उसका ज्ञान

इसलिए नहीं होता है कि हमारा मन उसकी ओर न रहकर पढ़ाई की ओर लगा रहता है। अतः यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रिय और विषय से सम्बन्ध के अतिरिक्त मनोयोग भी आवश्यक है। या यों कहें कि विषय का इन्द्रिय से संबंध होने के साथ–साथ बाह्य ज्ञानेन्द्रिय का भी मन से सम्पर्क होना आवश्यक है। इतना ही नहीं, जब तक इन्द्रिय द्वारा ग्रहीत विषय को मन आत्मा तक नहीं पहुँचाता तब तक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि ज्ञान तो एकमात्र आत्मा का ही गुण है। आत्मा ही किसी वस्तु को जानती है, उसे ही हम ज्ञाता कहते हैं। इस प्रकार इन्द्रिय द्वारा ग्रहीत विषय को आत्मा तक पहुँचाने में मन केन्द्रीय संवादवाहक का काम करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में तीन कड़ियाँ हैं–

(क) आत्मा का मन से संबंध,

(ख) मन का इन्द्रिय से संबंध, और

(ग) इन्द्रिय का विषय से संबंध।

वात्स्यायन ने अपने भाष्य में इसे बिल्कुल स्पष्ट रूप से कहा है –

''आत्मा मनसा संयुज्यते।
मन इन्द्रियेषु।
इन्द्रियाऽर्थेन।''

परिभाषा में आत्मा और मन तथा पुनः मन और इन्द्रिय के संबंध का कथन इसलिए नहीं किया गया है कि ये सभी प्रकार के ज्ञान के साधारण लक्षण या धर्म हैं। अतः प्रत्येक ज्ञान की आवश्यक मान्यता के रूप में जो स्वंयसिद्ध है उसके कथन की क्या आवश्यकता ? इसीलिए परिभाषा में प्रत्यक्ष के विभेदक लक्षण इन्द्रिय–विषय संबंध का ही उल्लेख किया गया है।

जिस प्रकार बाह्य ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य विषय ग्रहण करती हैं ठीक उसी प्रकार मन भी आन्तरिक विषय ग्रहण करता है। इसलिए मन को भी न्यायशास्त्र में एक इन्द्रिय (अन्तरिन्द्रिय) माना गया है। पर ध्यान रहे कि मन का बाह्य ज्ञानेन्द्रियों से स्पष्ट अन्तर है।

1. सभी बाह्य ज्ञानेन्द्रियां भौतिक हैं। उनका निर्माण पंचभूतों से होता है। किन्तु मन अभौतिक है। इसका निर्माण नहीं होता। यह अणुरूप माना गया है। परिमाणु रूप या निरवयव होने के कारण मन नित्य या अविनाशी है। किन्तु बाह्येन्द्रियाँ पंचभूतों से निर्मित होने के कारण अनित्य या विनाशी हैं।

2. प्रत्येक बाह्य ज्ञानेन्द्रिय का कोई निश्चित विषय होता है किन्तु मन सर्वविषयक होता है। विभिन्न इन्द्रियों द्वारा ग्रहीत विषयों को आत्मा तक पहुँचाने और उनमें सामंजस्य स्थापित करने के लिए यह एक केन्द्रीय इन्द्रिय का काम करता है।

3. बाह्य ज्ञानेन्द्रियों की संख्या पाँच है, किन्तु मन एक ही है।

मन का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित युक्तियाँ पेश की जाती हैं –

1. जिस प्रकार बाह्य विषयों के ज्ञान के लिए बाह्य ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं, ठीक उसी प्रकार आन्तरिक विषय (सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष इत्यादि) के ज्ञान के लिए भी एक अन्तरिन्द्रिय चाहिए। इसी को मन कहते हैं।

2. विषयों द्वारा इन्द्रियों को प्रभावित होते रहने पर भी मनोयोग के अभाव में ज्ञान नहीं उत्पन्न हो पाता। उदाहरण के लिए, यदि हम पूर्ण तल्लीन होकर अध्ययन में लगे हुए हों तो उस समय किसी को देखने पर भी हमें उसका ज्ञान नहीं हो पाता।

3. कई बाह्य ज्ञानेन्द्रियों का एक साथ अपने–अपने विषयों से संबंध होने पर भी उनका ज्ञान एक दूसरे के बाद उत्पन्न होता है, एक साथ उत्पन्न नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि विषयों और इन्द्रियों के अतिरिक्त भी कई कारण हैं जिनके चलते एक समय केवल एक ही विषय का ज्ञान आत्मा को हो पाता है। विभिन्न प्रकार के ज्ञानों का पूर्वापर क्रम से उत्पन्न होना यह भी सिद्ध करता है कि मन परमाणु रूप है। यदि मन परमाणु रूप न होकर सावयव होता तो इसके विभिन्न अवयवों के साथ विभिन्न इन्द्रियों का संबंध एक साथ ही संभव हो जाता और तब एक समय में कई प्रकार के ज्ञान आत्मा को प्राप्त होते। किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। यह ठीक है कि कभी–कभी विभिन्न ज्ञान एक–दूसरे के बाद इतनी तेजी से आते हैं कि हमें उनके एक साथ उत्पन्न होने का भान होता है। जैसे सूई से किसी पुस्तक में छेद करते समय जान पड़ता है कि एक साथ सभी पृष्ठों में छेद हो गया। किन्तु बात ऐसी नहीं होती। पन्ने एक दूसरे के बाद ही छिदते हैं।

2. अर्थ :– ज्ञान की उत्पत्ति के लिए ज्ञाता से भिन्न किसी ज्ञेय पदार्थ का रहना अनिवार्य है। इन्द्रियों के द्वारा किसी विषय का ही ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इन्द्रियाँ स्वयं को तो विषय बना नहीं सकतीं। न आँख स्वयं को देख सकती है, न कान स्वयं को सुन सकते हैं और न जिह्वा स्वयं का स्वाद ले सकती है। अपने से भिन्न किसी विषय के विद्यमान रहने पर ही इन्द्रियाँ ज्ञान के लिए क्रियाशील होती हैं। यदि विषय के विद्यमान नहीं रहने पर भी इन्द्रियों को ज्ञान प्राप्त हो तब तो किसी दीवाल के पार की भी वस्तुओं को हम देख पाते। पर ऐसा कहाँ संभव होता है? *न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका* में यह स्पष्ट कहा गया है कि ज्ञान का यह स्वाभाविक धर्म है कि विषय को इंगित करे।[3]

प्रत्यक्ष के लिए ज्ञाता से भिन्न बाह्य विषय की वास्ततिक सत्ता आवश्यक है। इसी विचार को दर्शन में वस्तुवाद कहा जाता है। इसी वस्तुवाद के कारण न्याय दर्शन का विचार अद्वैतादियों, विज्ञानादियों एवं शून्यवादियों से भिन्न हो जाता है। अद्वैतवादियों के अनुसार समस्त संसार माया है। बाह्य वस्तुओं की सत्ता यथार्थ

नहीं, केवल प्रतीति या आभास है। इस मत को मायावाद कहते हैं। विज्ञानवादी बौद्धों के अनुसार जिन वस्तुओं का हमें प्रत्यक्ष होता है वे केवल मानसिक प्रयत्न हैं। अतः मन से बाहर कोई विषय वास्तविक नहीं। सभी तथाकथित बाह्य विषय मन की कल्पना मात्र हैं। इस मत को सब्जैक्टिविज्म कहते हैं। शून्यवादी बौद्धों के अनुसार समस्त जगत् ही शून्य है। अतः ये लोग किसी भी विषय का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। इस मत को शून्यवाद कहते हैं।

न्याय दर्शन इन विचारों का खण्डन कर अपने वस्तुवाद की स्थापना करता है तथा द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन सात प्रकार के पदार्थों को ज्ञान का विषय मानता है।

3. सन्निकर्ष :– इन्द्रियों का विषय के साथ जो संबंध होता है उसे सन्निकर्ष कहते हैं। इस सन्निकर्ष के फलस्वरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। न्यायशास्त्र द्रव्य, गुण, कर्म, आदि अनेक प्रकार के विषयों की सत्ता में विश्वास करता है। इन सभी के साथ इन्द्रिय का संबंध एक ही प्रकार से नहीं हो सकता। इसलिए न्यायशास्त्र में सन्निकर्ष के छः भेद बतलाए गये हैं। वे ये हैं –

(क) संयोग,
(ख) संयुक्त समवाय,
(ग) संयुक्त समवेत समवाय
(घ) समवाय,
(ङ.) समवेत समवाय,
(च) विशेष्य–विशेषण भाव।

अब हम इन सबों पर एक–एक कर विचार करेंगे–

(क) संयोग :– इन्द्रिय का वस्तु से साथ जब सीधे, बिना किसी माध्यम के संबंध होता है तो उसे ''संयोग'' संबंध कहते हैं। जैसे – घट (घड़े) का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने में आँख का घड़े से साक्षात् संबंध होता है। दर्शनेन्द्रिय (आँख) सीधे घड़े के संपर्क में आ जाती है।

(ख) संयुक्त समवाय :– इसमें इन्द्रिय का वस्तु के साथ संबंध सीधे न होकर एक माध्यम के सहारे होता है। जैसे ''घड़े की लालिमा का ज्ञान प्राप्त करने में आँखों का सीधा संबंध घड़े से होता है और घड़ा का लालिमा से संबंध रहता है। अतः आँखों का लालिमा से संबंध घड़े के माध्यम से होता है। इस प्रकार यह प्रत्यक्ष दो संबंधों पर आधारित है – एक संयोग संबंध, जो आँख और घड़े के बीच रहता है, और दूसरा समवाय संबंध, जो घड़े और लालिमा के बीच रहता है। इसलिए इस संबंध को ''संयुक्त समवाय'' कहते हैं।

(ग) संयुक्त समवेत समवाय :– इसमें इन्द्रिय का वस्तु के साथ सम्बन्ध एक के बदले दो माध्यमों के सहारे होता है। जैसे घड़े की लाली की जाति (लालित्व)

का ज्ञान प्राप्त करने में आँख का सीधा संबंध घड़े से होता है। घड़े का संबंध लालिमा या लाली से है और उस लाली से उसका सामान्य या जाति (लालित्व) संबंध है। अतः आँखों का लालित्व से संबंध होने में दो माध्यमों की जरूरत पड़ जाती है। अतः इस प्रकार का प्रत्यक्ष कुल तीन सम्बंधों पर आधारित है – पहला आँख और घड़े का संयोग संबंध तथा दूसरा, घड़े और लाली का समवाय संबंध और तीसरा, लाली और लालित्व का भी समवाय संबंध। इसलिए दूसरे संबंध को "संयुक्त समवेत समवाय संबंध" कहते हैं।

(घ) समवाय :– इन्द्रिय का विषय यदि ऐसा हो कि स्वयं उस इन्द्रिय में ही गुण के रूप में समवेत हो तो ऐसे इन्द्रिय विषय संबंध को समवाय संबंध कहते हैं। इसका उदाहरण है कानों द्वारा शब्द का प्रत्यक्ष होना। हम जानते हैं कि कर्णेन्द्रिय का निर्माण आकाश से होता है जिसका गुण है शब्द। अतः कर्णेन्द्रिय में शब्द गुण के रूप में समवेत है। इसलिए कर्णेन्द्रिय और शब्द का संबंध "समवाय संबंध" कहा जाता है।

(ङ.) समवेत समवाय :– इसका उदाहरण है – कर्णेन्द्रिय और शब्दत्व का संबंध। कर्णेन्द्रिय और शब्द का संबंध "समवाय संबंध" कहा जाता है, क्योंकि शब्द आकाशनिर्मित कर्णेन्द्रिय का गुण होने के कारण उससे (कर्णेन्द्रिय) समवाय संबंध द्वारा संबद्ध रहता है। इस शब्द का भी अपनी जाति "शब्दत्व" से समवाय–सम्बन्ध रहता है। अतः कर्णेन्द्रिय का शब्दत्व से संबंध होने में दो समवाय संबंध आ जाते हैं – एक कर्णेन्द्रिय का शब्द से समवाय संबंध और दूसरा, शब्द का भी शब्दत्व से समवाय संबंध। इसलिए इस संबंध को "समवेत–समवाय–संबंध" कहते हैं।

(च) विशेष्य–विशेषण भाव :– जब इन्द्रिय का विषय इन्द्रिय से संबंध होने वाली वस्तु का विशेषण हो तो वैसे इन्द्रिय–विषय संबंध को विशेष्य–विशेषण–भाव कहते हैं। नैयायिकों के अनुसार, अभाव का प्रत्यक्ष इसी प्रकार के संबंध द्वारा होता है। उदाहरणार्थ, यदि हमें यहाँ घड़े के अभाव का प्रत्यक्ष होता है तो हमारी आँखों का संबंध जमीन (भूतल) से होता है जिसका विशेषण है घड़े का अभाव (घटाभाव)। यहाँ "भूतल" विशेष्य है और "घटाभाव" उसका विशेषण। इस विशेषण "घटाभाव" को हम अपने आप में नहीं देखते बल्कि इसे अपने विशेष्य (भूतल) की विशेषता के रूप में देखते हैं। अतः इस संबंध को "विशेषणता" या विशेष्य–विशेषण भाव कहते है।[4]

4. ज्ञान :– प्रत्यक्ष द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे नैयायिक यथार्थ या वास्तविक मानते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान अपनी उत्पत्ति की अवस्था में शब्दयुक्त नहीं होता है। हमें वस्तुओं के प्रथम नाम और प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष के स्पष्ट होने पर होता है। *न्यायसूत्र* में दी गई प्रत्यक्ष की परिभाषा में "अव्यपदेश्यम्" (अनिर्वचनीय) और "व्यवसायात्मकम्" (असन्दिग्ध) – दो शब्द आते हैं। नैयायिकों के अनुसार ये क्रमशः निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष के सूचक हैं।

प्राचीन परिभाषा के दोष :–

प्रत्यक्ष की उपर्युक्त परिभाषा सर्वसाधारण के लिए मान्य है। अधिकांश भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों में भी इसे स्वीकार किया गया है। किन्तु नव्य नैयायिक, वेदान्ती और कुछ अन्य विद्वान् इसे सही नहीं मानते। नव्यन्याय के प्रणेता गंगेश उपाध्याय इस परिभाषा में तीन प्रधान दोष बतलाते हैं –

1. इस परिभाषा में अतिव्याप्ति–दोष है, क्योकि प्रत्यक्ष के अलावा अनुमान आदि में भी मन का ज्ञेय वस्तु से संबंध होता है और मन भारतीय दर्शन के अनुसार निश्चय ही एक इन्द्रिय है। अतः इन्द्रिय–वस्तु संबंध प्रत्यक्ष–प्रमाण में नहीं, बल्कि अन्य सभी प्रमाणों में भी पाया जाता है।

2. दूसरी दृष्टि से इस परिभाषा में व्याप्ति–दोष भी आ जाता है, क्योंकि बिना इन्द्रिय–संपर्क के भी प्रत्यक्ष ज्ञान पाया जाता है। उदाहरण के लिए, ईश्वर को इन्द्रिय नहीं है फिर भी उसे सभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है।

3. इस परिभाषा में चक्रक–दोष पाया जाता है। प्रत्यक्ष की व्याख्या इन्द्रिय द्वारा की जाती है और फिर इन्द्रिय को समझाने के लिए प्रत्यक्ष की सहायता ली जाती है। जब यह प्रश्न उठता है कि इन्द्रिय किसे कहते हैं तो नैयायिक कहते हैं कि इन्द्रिय वह है जिससे वस्तु का प्रत्यक्ष होता है और फिर प्रत्यक्ष को समझाने के लिए कहते हैं कि प्रत्यक्ष वह है जिसका ज्ञान इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न हो।

प्रत्यक्ष की नवीनतम परिभाषा :–

इन सब दोषों के कारण गंगेश उपाध्याय के अनुसार "इन्द्रिय–वस्तु संपर्क के प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण है विषय की साक्षात् प्रतीति।[5] उदाहरण के लिए, जब अचानक एक व्याघ्र हमारे सामने उपस्थित हो जाता है तो हमें सीधा उसका ज्ञान होता है, इसमें न किसी तर्क या अनुमान की आवश्यकता होती है और न इसके लिए समय ही रहता है। इसी तरह ईश्वर को भी वस्तुओं का सीधे, बिना किसी व्यवधान के प्रत्यक्ष होता है। अतः हम पाते हैं कि इससे लौकिक या अलौकिक सभी प्रकार के प्रत्यक्ष की व्याख्या हो जाती है और साथ ही अनुमानादि अन्य प्रमाणों से प्रत्यक्ष का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है। अनुमान आदि अन्य सभी प्रमाण सीधे नहीं उत्पन होते। उनकी उत्पत्ति में कुछ न कुछ व्यवधान जरूर होता है। जैसे, अनुमानजन्य ज्ञान के पहले व्याप्ति–ज्ञान होना जरूरी है। इसी तरह उपमानजन्य ज्ञान सादृश्य–ज्ञान पर और शब्दजन्य ज्ञान पद–ज्ञान पर निर्भर करता है। प्रत्यक्ष ही एक ऐसा ज्ञान है जो सीधे बिना किसी व्यवधान के उत्पन्न होता है। इसलिए प्रत्यक्ष की एक दूसरी परिभाषा यों दी गयी है कि "बिना किसी दूसरे माध्यम के जो ज्ञान उत्पन्न हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।"[6]

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि प्राचीन और नव्य न्याय द्वारा की गई इन दोनों प्रकार की परिभाषाओं में से कोई भी बेकार नहीं है। पहली परिभाषा हमारे

सभी लौकिक प्रत्यक्ष की व्याख्या करती है। जब हमें लौकिक और अलौकिक, मानवीय और ईश्वरीय– सभी प्रकार के प्रत्यक्ष की व्याख्या करने की आवश्यकता होती है तो हम नव्य–न्याय द्वारा दी गई परिभाषा का सहारा लेते हैं।

ग्राम पो० कोयलाबेलवा, भाया - बारा चकिया
जिला - पूर्वी चम्पारण, बिहार - 845412

संदर्भ सूची

1. *अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्। न्यायभाष्य, 1.1.3*
2. *इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिवारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। न्यायसूत्र, 1.1.4*
3. *विज्ञानमनोरमं संवेदनम्। न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका, पृष्ठ 4.*
4. *कुछ दूसरे दार्शनिकों के अनुसार, अभाव ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा संभव नहीं है। अनुमान द्वारा ही इसका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। भाट्टमीमांसा और वेदान्त में इसके ज्ञान के लिए "अनुपलब्ध" नामक एक स्वतंत्र प्रमाण ही मान लिया गया है।*
5. *प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वं लक्षणम्। – तत्त्व–चिन्तामणि।*
6. *ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। – तत्त्वचिन्तामणि।*

दर्शनशास्त्र के समक्ष समस्या और चुनौतियां

डॉ. रेणु कुमारी एवं डॉ. रूपा कुमारी

जहां तक दर्शनशास्त्र की समस्या का प्रश्न है यह समस्या पाश्चात्य और भारतीय दोनों दर्शनों में देखी जाती है, परन्तु दर्शनशास्त्र की चुनौतियां समसामयिक काल या अनुप्रयुक्त विज्ञान (Applied Science) के युग में ही देखी जा रही हैं।

दर्शनशास्त्र के समक्ष जो समस्या और चुनौतियां रही हैं, उन्हें विभिन्न कालों तथा पाश्चात्य एवं भारतीय दृष्टिकोण से देखना होगा। सर्वप्रथम हमें पाश्चात्य दृष्टिकोण से दर्शनशास्त्र के समक्ष जो समस्याएं रही हैं उन पर विचार करना होगा।

पाश्चात्य दर्शन में प्रारंभिक समस्या मूलतत्व के स्वरूप एवं संख्या को लेकर थी। मूल तत्व 'जड़' है या 'चेतन' ? मूल तत्व 'एक' है या 'दो' ? ....आदि। कुछ दार्शनिक मूल तत्त्व को 'जड़' मानते हैं तो कुछ दार्शनिक मूल तत्त्व को 'चेतन' मानते हैं। इस क्रम में सर्वप्रथम थेलीज आये जिन्होंने मूल तत्त्व को 'जल' माना। फिर एनाक्जीमेनिज और ऐनाक्जीमेंडर आये जिन्होंने मूल तत्त्व को 'वायु' और असीम माना। फिर हेराक्लीटस आये जिन्होंने 'परिवर्तन' (Change) और 'अग्नि' को मूल तत्व के रूप में स्वीकार किया। फिर, एम्पेडोक्लीस आये जिन्होंने चारों भौतिक तत्त्वों को मूलतत्त्व के रूप में स्वीकार किया। डेमोक्राइटिस ने भौतिक परमाणु की सत्ता मानी। इस प्रकार आरंभ से ही मूलतत्त्व की संख्या और स्वरूप को लेकर विवाद था।

सुकरात के समय रूढ़िवादियों तथा अंधविश्वासों का प्रभाव था और अविकसित धार्मिक चेतना साकार तथा व्यक्तित्व–पूर्ण देवों को मानने के लिए बाध्य थी। उस समय परम्परागत मान्यताओं के विरुद्ध जाने का अर्थ दंड प्राप्त करना था। परन्तु, दर्शनशास्त्र के प्रादुर्भाव होने से निर्गुण, निर्विकार तथा निरपेक्ष परमतत्त्व की स्थापना हुई जिससे शासकों के अस्तित्व पर खतरा मंडराने लगा। कारण, उस समय दर्शनशास्त्र तर्क एवं बुद्धि पर आधारित था। उदाहरणस्वरूप, उस समय यह कहा जाता था कि 'सूर्य पृथ्वी के चारों तरफ घूमता है।' 'परन्तु दर्शनशास्त्र एवं विज्ञान के प्रभाव से यह कहा जाने लगा कि 'पृथ्वी सूर्य के चारों

तरफ घूमती है।' कहने का तात्पर्य है कि दर्शनशास्त्र के प्रादुर्भाव से एक प्रकार से किसी विषय के समक्ष एक वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोंण प्रस्तुत किया जाने लगा। फिर, प्लेटो ने परम तत्त्व के रूप में सुकरात के तर्क को अधिक स्पष्ट करते हुए शुभ के प्रत्यय (Idea of Good) की चर्चा की और इसे 'श्रेष्ठ सामान्य' मानकर निराकार सिद्ध किया। उसके बाद अरस्तू आये जिन्होंने 'विशेषों' को या 'वस्तुओं' को मूलतत्त्व माना।

मध्यकाल में पाश्चात्य देशों में दर्शनशास्त्र के ऊपर धर्म का अत्यधिक प्रभाव था। कहने का तात्पर्य है कि इस काल में धर्म दर्शनशास्त्र के ऊपर प्रभावी था। सर्वप्रथम, इस काल में संत आगस्टाइन का आगमन हुआ, जिन्होंने व्यवस्थित रूप से धर्म के ऊपर एक पुस्तक (On True Religion) लिखा।

फिर, एन्सेल्म और एक्वाइनस आये जिन्होंने तर्क के माध्यम से ईश्वर को प्रमाणित करने का प्रयास किया। निर्विकार ईश्वर यहां परम तत्त्व रहा और उसने जगत् की सृष्टि छः दिनों में शून्य से की।

फिर, आधुनिक काल में बुद्धिवादी और अनुभववादी दार्शनिकों के बीच ज्ञान का साधन लेकर विवाद हुआ। इस काल में सर्वप्रथम दार्शनिक बेकन ही थे जिन्होंने दर्शन को वैज्ञानिक आधार दिया।

इस क्रम में सर्वप्रथम बुद्धिवादी दार्शनिक डेकार्ट आते हैं। डेकार्ट ने एक नयी विधि की चर्चा की और वह विधि संदेह–विधि (the Method of doubt) है। इस कारण डेकार्ट को ही आधुनिक दर्शन का पिता कहा जाता है। इस विधि के आधार पर उन्होंने आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया। फिर, स्पीनोजा आये जिन्होंने एकवाद (Monism) में विश्वास किया और समानान्तरवाद (Parallelism) संबंधी सिद्धांत दिये। अंतिम बुद्धिवादी दार्शनिक लाइबनित्ज हुए जिन्होंने 'मोनाडों' की चर्चा की।

अनुभववादी दार्शनिकों में सर्वप्रथम लॉक हुए जिन्होंने ज्ञान का साधन अनुभव बताकर दार्शनिक समस्याओं का समाधान किया। फिर बर्कले आये जिन्होंने 'आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद' की चर्चा की। फिर ह्यूम ने कारण और कार्य–संबंध की मनोवैज्ञानिक व्याख्या देने का प्रयास किया।

फिर, बुद्धिवादी और अनुभववादी दार्शनिकों के बीच जो गतिरोध था उसे दूर करने का प्रयास किया गया। काण्ट ने अपने 'समीक्षावाद' (Criticism) में इन दोनों के बीच उत्पन्न गतिरोध को समाप्त करने की कोशिश की। काण्ट के बाद हिगेल आये जिन्होंने विश्व की वैचारिक व्याख्या प्रस्तुत किया। उन्होंने यहां तक कह दिया कि जो बौद्धिक है वही वास्तविक है और जो वास्तविक है वही बौद्धिक है।

दर्शनशास्त्र की एक प्रमुख समस्या तत्त्वमीमांसा की समस्या है। अधिकतर दार्शनिकों के बीच तत्त्वमीमांसा को लेकर काफी विवाद रहा। परन्तु यह विवाद 20वीं शताब्दी के आंरभ तक ही था। इसके बाद से विज्ञान का प्रभाव बढ़ गया था। इसी क्रम में प्रो. ऐ.जे. एयर तथा प्रो. कार्नप आये जिन्होंने तत्त्वमीमांसा का उन्मूलन करने का प्रयास किया। इस समय से तत्त्वमीमांसा का महत्व घटता गया। इसके अनुसार दर्शन का कार्य भाषा–विश्लेषण द्वारा विज्ञान के प्रत्ययों को स्पष्ट करना है।

फिर, समकालीन चिंतकों में ज्यां पाल सार्त्र आये जिन्होंने यह बताया कि 'अस्तित्व का अर्थ मुख्य रूप से मनुष्य के निर्णय की स्वतंत्रता है।' इसी क्रम में उन्होंने निकृष्ट आस्था (Bad faith) की चर्चा की। यहां मनुष्य भावनाओं के साथ जीवन–निर्वाह करने वाला प्राणी बताया गया न कि सिर्फ बौद्धिक प्राणी।

फिर, समकालीन युग में दर्शन शास्त्र की प्रमुख समस्या भाषा–विश्लेषण रही है। व्यावहारिक जीवन में शब्दों की अस्पष्टता के कारण हमें अत्यधिक परेशानियां उठानी पड़ती हैं, परन्तु अनेक भाषा–दार्शनिकों, जैसे रसेल, विट्गेन्स्टाइन तथा राइल ने भाषा की अस्पष्टता को बहुत हद तक दूर करने का प्रयास किया। परन्तु सिर्फ भाषा–विश्लेषण या शब्दों की अस्पष्टता को दूर करने से दर्शनशास्त्र के समक्ष समस्याएं समाप्त नहीं हो पाती हैं। अभी भी बहुत सी समस्याएं हैं जिनका समाधान दर्शनशास्त्र को करना पड़ेगा।

दर्शनशास्त्र का एक प्रमुख क्षेत्र विज्ञान–दर्शन (Philosophy of Science) भी है। विज्ञान दर्शन में बहुत से ऐसे संप्रत्यय हैं जिन्हें हम स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं। जैसे पूर्वकल्पना, व्याख्या, कारण–कार्य संबंध तथा वर्गीकरण आदि के संप्रत्ययों को स्पष्ट करना। इन सभी संप्रत्ययों को स्पष्ट करना आरंभ से ही एक प्रमुख समस्या थी जिसके कारण वैज्ञानिकों को इस संप्रत्यय को समझने में कठिनाई होती थी। परन्तु विज्ञान–दर्शन ने इन संप्रत्ययों को स्पष्ट करके वैज्ञानिकों का कार्य आसान कर दिया। कहने का तात्पर्य है कि इन संप्रत्ययों को स्पष्ट करना दर्शनशास्त्र की एक समस्या थी। परन्तु उन सभी समस्याओं का समाधान विज्ञान–दर्शन ने किया।

भारतीय दर्शनशास्त्र में हम दर्शनशास्त्र के समक्ष अनेक समस्याएं देखते हैं। मूलतत्त्व का स्वरूप एवं संख्या को लेकर भी भारतीय दर्शन में काफी विवाद रहा है। भारतीय दर्शन में दो प्रकार के संप्रदाय हैं:– आस्तिक और नास्तिक। दोनों दर्शनों की अपनी–अपनी समस्याएं हैं। मोक्ष के स्वरूप को लेकर विवाद रहा है। कारण, भारतीय दर्शन की एक प्रमुख समस्या मोक्ष के स्वरूप को लेकर है। कुछ मोक्ष के स्वरूप को 'जड़' तो कुछ 'चेतन' बताते हैं। इस दर्शन में दुःख से छुटकारा पाने के लिए विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न मार्ग अपनाये हैं।

फिर, मूल तत्त्व की संख्या को लेकर भी विवाद रहा है। कोई 'एक' मानते हैं तो कोई 'द्वैतवाद' को मानते हैं तो कोई 'अद्वैतवाद' को मानते हैं। ज्ञान के साधन की भी समस्या रही है। कुछ दार्शनिक 'दो मानते हैं', तो कुछ 'तीन', कुछ 'चार' तो कुछ दार्शनिक 'छः' मानते हैं। भारतीय दार्शनिकों में शंकर ऐसे दार्शनिक हैं जिन्होंने प्रकृति और पुरुष दो स्वतंत्र सत्ता की समस्या का समाधान 'माया' के माध्यम से करने का प्रयास किया है जिसमें वे काफी हद तक सफल रहे।

दर्शन शास्त्र के समक्ष चुनौतियां

सूचना प्रौद्योगिकी तथा भूमंडलीकरण के युग में भारतीय या पाश्चात्य दोनों दर्शनों को चुनौतियां मिल रही हैं।

यह देखा गया है कि विज्ञान में आज जो भी अनुसंधान हो रहा है या विज्ञान में जो भी बातें कही गई हैं वे सभी बातें भारतीय दर्शन के दोनों सम्प्रदायों में बहुत पहले ही कही जा चुकी हैं। कहने का तात्पर्य है कि विज्ञान में जो भी प्रश्न उठता है कि उसका उत्तर भारतीय दर्शनशास्त्र में मिल जाता है।

फिर, यह भी कहा जाता है कि प्राकृतिक विज्ञान (Natural Science) से भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों का संबंध दिखाने का प्रयास किया गया है। यह प्रयास बहुत हद तक सफल भी रहा है। परन्तु आज अनुप्रयुक्त विज्ञान (Applied Science) का युग आ चुका है। अनुप्रयुक्त विज्ञान (Applied Science) से जब हम भारतीय दर्शन का संबंध दिखाने का प्रयास करते हैं तो उस क्षेत्र में असफल रहते हैं। सिर्फ योग–दर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जिसका अनुप्रयुक्त से संबंध दिखाया जा सकता है। कहने का तात्पर्य है कि सिर्फ योग–दर्शन ही अनुप्रयुक्त दर्शन है।

योग–गुरु स्वामी रामदेव ने भी योग दर्शन को अनुप्रयुक्त (Applied) कहा है। वे 'प्राणायाम' और 'आसन' के माध्यम से मनुष्य की समस्त बीमारियों का निदान करने का प्रयास कर रहे हैं, परन्तु प्रोफेसर सिद्धेश्वर भट्ट ने कहा है कि सम्पूर्ण भारतीय दर्शन शुष्क चिंतन नहीं, बल्कि व्यावहारिकता से परिपूर्ण है।

आज यह प्रश्न उठ रहा है कि दर्शनशास्त्र समाज या राष्ट्र को क्या दे रहा है ? समाज या राष्ट्र में भ्रष्टाचार ऊंचाई पर पहुंच गया है। परन्तु नीतिशास्त्र, जो दर्शनशास्त्र का एक भाग है। इस समस्या का समाधान खोजने में विफल रहा है। कहने का तात्पर्य है कि दर्शनशास्त्र मूल्यों की शिक्षा देने में सफल एवं परन्तु उसे व्यवहार में लाने में असफल रहा है।

दर्शनशास्त्र के अंतर्गत धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। यहां पर यह कहा जाता है कि सभी धर्मों का लक्ष्य एक ही है। परन्तु इसके मार्ग अलग–अलग हैं। फिर भी विभिन्न धर्मों के अनुयायियों के बीच साम्प्रदायिक दंगे हो रहे हैं। इस तरह से यह कहा जा सकता है कि दर्शनशास्त्र न तो मनुष्य की

आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहा है और न ही मानव की जटिल समस्याओं का समाधान ही कर सका है। इस तरह से यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन के साथ–साथ पाश्चात्यदर्शन के समक्ष चुनौतियां बढ़ती जा रही हैं।

हम देख रहे हैं कि सूचना प्रौद्योगिकी के युग में दर्शनशास्त्र मृतप्राय होता जा रहा है। इसका कारण है कि दर्शनशास्त्र आज भी व्यावहारिकता से दूर है। आज समाज में जीवन–यापन के लिए धन अर्जित करना अनिवार्य है। इसके लिए हमें कोई आजीविका या रोजगार चुनना होता है। अमूर्त दर्शन ऐसा रोजगार देने में अक्षम है। आज शिक्षा रोजगार–परक से एक सीढ़ी आगे बढ़कर पैसा–परक हो गयी है।

अगर दर्शनशास्त्र का अस्तित्व बचाना है तो निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना होगा :–

1. विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में नैतिक शिक्षा को अनिवार्य बनाना होगा।
2. योग–शिक्षा को भी अनिवार्य बनाना होगा।
3. दर्शनशास्त्र विषय को रोजगार–परक बनाना होगा। व्यावहारिक जीवन से इसे संबंधित करना होगा तभी विद्यार्थी इस विषय के प्रति आकर्षित होंगे। विशेषकर तृतीय श्रेणी की नौकरियों में जो प्रश्न पूछे जाते हैं उनमें तर्कशास्त्र, अंकगणित एवं सामान्य ज्ञान के साथ–साथ एक वर्णनात्मक पेपर रखना चाहिए जिसमें नैतिकशास्त्र से संबंधित प्रश्न भी पूछे जाने चाहिए। ऐसा तभी होगा जब हमारी सरकार यह समझ पायेगी कि यह विषय सामाजिक एवं वैज्ञानिक समस्या के समाधान में उपयोगी है।
4. सभी दर्शनों का एक वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करना होगा। दर्शनशास्त्र में बहुत से ऐसे संप्रत्यय हैं जिन्हें हम अभी तक स्पष्ट नहीं कर पाये हैं। उदाहरण के लिए 'अध्यात्मवाद' को हम सही ढंग से स्पष्ट नहीं कर पाये हैं। फिर, यह भी स्पष्ट करना होगा कि अध्यात्मवाद बहुदेववादी एवं कर्मकाण्डी धार्मिक अंधविश्वास को दूर करने में किस प्रकार सहायक है, फिर पूर्ण भौतिकवाद का परिणाम उपभोक्तावादी संस्कृति तथा बाजारवाद है जो चरम रूप में मानव–समाज एवं समस्त प्रकृति के लिए घातक है।

इसका समाधान अध्यात्मवादी विचारधारा से करना होगा। अध्यात्मवादी एवं भौतिक वादी विचारों में समन्वय आवश्यक है। यह सब हमें सिद्ध करना होगा। हमें बताना होगा कि नैतिकता का संबंध अध्यात्म से है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि अध्यात्मवाद की व्यावहारिक उपयोगिता सिद्ध करनी होगी अन्यथा इसे उन्मूलन करने में ही हमारी भलाई है।

अध्यात्मवाद और विज्ञान के संबंध को स्पष्ट करना होगा। इसी कारण सन् 2000 ई. में नई दिल्ली में World Philosophy Congress में Spirituality,

Science and Technology for World Peace विषय रखा गया था। फिर, सन् 2008 ई. में सियोल में World Philosophy Congress का 22वां अधिवेशन आयोजित किया गया जिसका विषय Rethinking Philosophy Today रखा गया।

यह विषय ही यह दर्शाता है कि दर्शनशास्त्र के प्रति चुनौतियां बढ़ती ही जा रही हैं। सभी तत्त्वमीमांसीय संप्रत्ययों को स्पष्ट करना होगा। जिस संप्रत्यय की विज्ञान से या व्यवहार से संगति नहीं बैठती है उसे छोड़ना पड़ेगा।

इन सभी बातों पर ध्यान देकर ही हम दर्शनशास्त्र का अस्तित्व बचा सकते हैं।

डॉ. रेणु कुमारी
व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग,
मिश्री सदा सोनीहार कॉलेज,
खगड़िया (बिहार)

डॉ. रूपा कुमारी
व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग,
अल्मा इकबाल कॉलेज,
बिहार शरीफ

श्री अरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर एवं डॉ० राधाकृष्णन् के नैतिक विचारों की प्रासंगिकता

डॉ० विनय कृष्ण तिवारी
डॉ० कुमारी अनिता
डॉ० अंजू कुमारी

मानव–जीवन और अनुभव का समग्रता के रूप में अध्ययन करना ही दर्शन कहलाता है। इस प्रकार मानव–जीवन और मानव–अनुभव में जितनी भी बातें आती हैं, उन सबों का समग्रता के रूप में व्याख्या करना दर्शन–शास्त्र का कार्य है। नीतिशास्त्र दर्शन–शास्त्र का एक प्रमुख अंग है। नीतिशास्त्र का संबंध मनुष्य के कर्मों के साथ है। मानवजीवन प्रारंभ से अंत तक कर्ममय है। मनुष्य चाहकर भी कर्म से छुटकारा नहीं पा सकता है, इसलिए मानवजीवन में कर्म का अत्यधिक महत्व है। नीतिशास्त्र मनुष्य के कर्मों का मूल्यांकन करता है। नीतिशास्त्र का संबंध मनुष्य के अपने वास्तविक स्वरूप से रहता है, क्योंकि इसमे आदर्शों का निर्धारण किया जाता है। उपनिषदों में कहा गया है कि मनुष्य के जैसे संकल्प या विचार होते हैं, उसी के अनुकूल उसका स्वरूप होता है। इस लोक में उसके विचारों या संकल्पों का कोई परिणाम लक्षित नहीं होता, तो भावी जन्म में उन्ही विचारों और संकल्पों के अनुकूल वह विशेष प्रकार की योनि को प्राप्त करता है। अतः भारतीय दृष्टि से हमारे विचारों और संकल्पों का बहुत अधिक महत्व है, क्योंकि इस लोक में ही हमारे चरित्र के निर्माण से उसका संबंध नहीं रहता, बल्कि अगले जन्म से भी उसका संबंध रहता है। हमलोग अच्छा या बुरा जो कुछ भी कार्य करते हैं, इसी जीवन तक वे कार्य सीमित नहीं रहते, बल्कि अगले जीवन में भी इन कार्यों का प्रभाव पड़ता है। हमारा आचार, व्यवहार, आदर्श, हमारे चरित्र, हमारा सोचना–विचारना इत्यादि इन्हीं क्रिया–कलापों द्वारा निर्धारित होता है। भारतीय नीति–दर्शन की विशेषता यह है कि आगामी जीवन का मूल आधार वर्तमान जीवन को माना जाता है और वर्तमान जीवन का आधार भूतकाल के कार्यों को माना जाता है। इस प्रकार मानव–जीवन में नीतिशास्त्र की उपयोगिता महत्वपूर्ण है। इस सन्दर्भ में पी0टी0 राजू ने लिखा है– 'भारतीय दर्शन में तर्कशास्त्र, ज्ञानमीमांसा, नीतिशास्त्र, तत्वविद्या

तथा धर्म को कभी भी एक दूसरे से अलग नही किया गया है।' प्रस्तुत आलेख में प्रसिद्ध दार्शनिक रवीन्द्रनाथ टैगोर, श्री अरविन्द एवं डॉ0 राधाकृष्णन् के नैतिक विचारों की प्रासंगिकता पर विचार किया गया है।

नीति–शास्त्रीय विवेचन सब कहीं कुछ पूर्व–मान्यताओं पर आधारित होता है। उदाहरण के लिए जैसा कि जर्मन दार्शनिक कान्ट ने दिखलाया है, नैतिक जीवन की तीन पूर्व–मान्यतायें हैं– संकल्प की स्वतंत्रता, आत्मा की अमरता और ईश्वर में विश्वास। ये पूर्व–मान्यतायें हैं, इनको माने बगैर नीतिशास्त्र को प्रमाणित रूप से स्थापित नहीं किया जा सकता। पाश्चात्य नीतिशास्त्र के समान भारतीय नीतिशास्त्र की भी कुछ पूर्व–मान्यतायें हैं। इन पूर्व–मान्यताओं को सिद्ध करने के लिए तर्क नहीं दिये गये हैं, इनको मान लिया गया है। इनको भारतीय नीतिशास्त्र का आधार कहा जा सकता है। डॉ0 सुशील कुमार मैत्र के अनुसार– 'हिन्दुओं का नीतिशास्त्र आध्यात्मिक जीवन की एक त्रिरूप–योजना पर आधारित है, जिसमें सामाजिकता, स्वगत नैतिकता और निरपेक्ष सोपान है। इस प्रकार हिन्दू नीतिशास्त्र सामाजिक नीतिशास्त्र और मनोवैज्ञानिक नीतिशास्त्र है, तथा निरपेक्ष के दर्शन में परिपूर्ण होता है, जो कि आध्यात्मिक जीवन की चरम परिणति हैं। इस प्रकार भारतीय नीतिशास्त्र के आधार दार्शनिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक हैं।

धार्मिक और दार्शनिक आधारों के अतिरिक्त भारतीय नीतिशास्त्र का सामाजिक आधार भी महत्वपूर्ण हैं। मूल रूप से भारतीय नीतिशास्त्र व्यक्तिवादी है, क्योंकि उसमें व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति और मोक्ष को ही परम लक्ष्य माना गया है। फिर, क्योंकि व्यक्तिगत कल्याण लोक–कल्याण से भिन्न नहीं है इसलिए मोक्ष–साधना में लगा हुआ व्यक्ति लोक–कल्याण के लिए काम करता है।

समाज की व्यवस्था इस प्रकार से नियोजित की गयी है जिसमें सभी व्यक्तियों को अपनी प्रवृत्तियों के अनुरूप सामाजिक स्थिति प्राप्त हो। विभिन्न सामाजिक स्थितियों में लोगों को अपने कार्य–भाग के अनुरूप कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है। नीतिशास्त्र का सामाजिक पक्ष सबसे अधिक धर्मशास्त्रों में स्पष्ट हुआ है। इसे वर्णाश्रम–धर्म कहा जा सकता है, जिसमें अपने वर्ण और आश्रम के कर्तव्यों के पालन करने का विधान है। चूँकि ये अलग–अलग होते हैं, इसीलिए ये सापेक्ष धर्म दिखलाते हैं, ये सामाजिक कर्तव्य बतलाते हैं। वर्ण का विभाजन प्रवृति के अनुसार होता था, क्योंकि यह माना जाता है कि ईश्वर या प्रकृति ने मनुष्य को जो स्वाभाविक प्रवृत्तियॉ दी हैं, उनका सबके कल्याण के लिए उपयोग करना ही उसका परम धर्म है। इसलिए *गीता* में कहा गया है कि अपने धर्म का पालन करते हुए मरना भी श्रेष्ठ है, और दूसरे के धर्म का पालन भय उत्पन्न करता है। आश्रम प्रत्येक मनुष्य के जीवन में विकास की स्थितियॉ दिखलाते हैं।

मानववादी होने के कारण रवीन्द्रनाथ टैगोर ने मनुष्य को सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना है। उनके अपने शब्दों में– 'मुझे अपनी आस्था को यह कहकर बतलाना चाहिए कि यह जगत् जिसमें कि जीव और अजीव वस्तुयें हैं, मनुष्य में सर्वोच्च अभिव्यक्ति, चरम परिणति प्राप्त करता है। सृष्टि के रूप में सृष्टि का प्रतिनिधि है, और इसीलिए समस्त प्राणियों में वही इस जगत् को समझने में सफल हो सका है और उसके ज्ञान, उसकी अनुभूति और उसकी कल्पना में व्यक्तिगत सत् उस सत् से मिलता है जो कि सब कहीं है।' इन शब्दों से स्पष्ट होता है कि रवीन्द्रनाथ टैगोर रहस्यात्मक अनुभूति को मनुष्य का ईश्वर से मिलन मानते हैं। संसार में असंख्य व्यक्ति हैं, ईश्वर उन सब में विद्यमान है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति उस परम–पुरुष की अभिव्यक्ति का केन्द्र है, किन्तु ये विभिन्न व्यक्ति विभाज्य नहीं हैं। अन्त में वे सब परम–पुरुष में मिलकर एक हो जाते हैं। इस परम–पुरुष में परम–व्यक्तित्व है। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ टैगोर मानव और ईश्वर दोनों में व्यक्तित्व मानते हैं, और मानव को दैवी व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानते हैं। इस अभिव्यक्ति को अधिक से अधिक प्राप्त करना ही मनुष्य का लक्ष्य है। दैवी परम–पुरुष के माध्यम से मनुष्य आपस में संबंधी हो जाते हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर के शब्दों में– 'यह संबंध–जगत् मेरे लिए व्यक्तिगत और सार्वभौम दोनों ही है। मेरी दुनियॉ मेरी है, परन्तु वह तुम्हारी भी है, परम सत् केवल मेरे अपने व्यक्तित्व में ही सीमित नहीं, बल्कि असीम व्यक्तित्व में भी है।' इस परम पुरुष का वर्णन करते हुए रवीन्द्रनाथ टैगोर ने लिखा है 'यह परम–पुरुष, समस्त सत् का केन्द्र, एक नकारात्मक सत् मात्र नहीं है, वह आनन्द है जो कि स्वयं को रूपों में अभिव्यक्त करता है। उसका संकल्प ही सृष्टि करता हैं।'

सबसे पहले मनुष्य अपने सीमित अहम् को पहचानता है, और फिर समष्टि को जानता है। स्वयं अपने आत्मज्ञान में भी वह आत्मा को जानने से पहले अहंकार में रहता है। विकास की यह प्रक्रिया प्रकृति का नियम हैं। व्यक्ति अथवा समाज सब कहीं विकास एकांगिकता में सर्वांगता की ओर बढ़ता है। विकास की प्रक्रिया में व्यक्ति अथवा समाज के प्रत्येक तत्व की एक सीमा होती है, जिससे आगे वह स्वयं नहीं जा सकता। उसे किसी उच्चतर तत्व के अधीन होना होता है। किन्तु उच्चतर तत्व की आधीनता का अर्थ बहिष्कार नहीं, बल्कि रूपान्तर है। यह प्रक्रिया चलती ही जाती है, जब तक कि आत्मा, प्रकृति और परमात्मा–सद्वस्तु के इन तीन पहलुओं का सर्वांग साक्षात्कार नहीं हो जाता। सामान्य व्यक्ति को यह बात कठिनाई से समझ में आ सकती है क्योंकि अपने दैनिक जीवन में वह 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' के आदर्शों को नहीं बल्कि अपनी आवश्यकताओं की संतुष्ट करता दिखलाई पड़ता हैं। उसके जीवन में नैतिकता, कला, साहित्य, दर्शन और धर्म सभी का स्थान होता है, किन्तु इनको केन्द्रीय स्थान नहीं दिया जाता। उसके जीवन का

मुख्य प्रयोजन आगे अस्तित्व को बनाये रखना और अपनी इच्छाओं को संतुष्ट करना होता है। किसी भी सर्वांग सामाजिक आदर्श में इन मूल आदर्शों को अवश्य स्थान दिया जाना चाहिए।

श्री अरविन्द का आदर्शवाद यथार्थवादी भूमि पर आधारित है। मानव आदर्शो की चर्चा करते समय उन्होंने मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं को सदैव ध्यान में रखा है। उनके अपने शब्दों में– 'उसका प्राथमिक उद्देश्य जीवित रहना और जगत् में अपने लिए और अपनी जाति के लिए एक स्थान होना चाहिए। दूसरे, उसको पाने, उत्पादन करने और उसका आनन्द लेने में एक सतत व्यापक क्षेत्र होना चाहिए और अन्त में पृथ्वी के समस्त जीवन पर अपने को फैला देना और उस पर शासन करना यह उसका पहला व्यावहारिक कार्य हैं। अरविन्द :– मनुष्य का भी क्रमिक विकास हो रहा है जो अतिभाव के रूप में परिणत होगा। यहाँ तक जीवन का उदे्श्य डार्विन द्वारा बताये गये जैवकीय उदे्श्य से अधिक नहीं है। फिर श्री अरविन्द मानव–उदे्श्य की इस प्राथमिक परिभाषा पर ही नहीं रुक जाते। मानव–विकास के साथ–साथ उसके आदर्श भी बढ़ते जाते हैं, और क्रमशः वे ऊँचे होते चले जाते हैं।'

आधुनिक युग में श्री अरविन्द के समान डॉ0 राधाकृष्णन् भी भारतीय संस्कृति के प्रमुख व्याख्याता माने जाते हैं। पूर्व ने सभी महान् धर्मों को जन्म दिया है, किन्तु आधुनिक काल में यह धार्मिकता मिटती जा रही है। राधाकृष्णन् के अनुसार सच्ची धार्मिकता का विनाश आधुनिक जगत् का सबसे बड़ा संकट है। उन्होंने अपने विभिन्न ग्रन्थों में इस भारी संकट की ओर बार–बार ध्यान दिलाया है। पूर्व की तुलना में पश्चिम विशिष्टतावादी है। उसमें विज्ञान के लिए आग्रह है। पश्चिम के अनुकरण से पूर्व भी विज्ञान और प्रौद्योगिकी की चकाचौंध में धर्म को भूल गया है। आन्तरिक बोध का स्थान बुद्धि और विवेक ने ले लिया है। इससे आध्यात्मिक संस्कृति को बड़ा आधात पहुँचा है। मानव–जीवन लक्ष्यहीन हो गया है और जातीय, प्रजातीय तथा राष्ट्रीय पूर्वाग्रहों के थपेड़ों से आन्दोलित होता रहता है। आन्तरिक आत्मा की अवहेलना से व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के सभी पहलुओं में अशान्ति, अव्यवस्था और असंतुलन दिखाई पड़ता है। इस आधुनिक सांस्कृतिक, सामाजिक विघटन को रोकने का एकमात्र उपाय धर्म को फिर से उसके स्थान पर प्रतिष्ठित करना है। राधाकृष्णन् के शब्दों में– 'धर्म मनुष्य में जो कुछ सर्वोच्च है, वह हमें दे सकता है, वह रचनात्मक तत्व से हमारा सतत सम्पर्क स्थापित कर सकता है, जिसकी अभिव्यक्ति जीवन है। वह ऐसा दैवी संकल्प, सौम्यता, आन्तरिक शान्ति दे सकता है, जिसको कोई भी उद्वेग अशान्त नहीं कर सकता, कोई भी अत्याचार हिला नहीं सकता। धर्म में ही आत्मा की सच्ची अभिव्यक्ति सम्भव है। आज संसार को मानव में आत्मा के विकास की आवश्यकता है, जिस पर सभी धर्मों ने

जोर दिया है। धार्मिक परम्परा को भुलाने के कारण ही भारतवर्ष में लोग अपने कर्तव्यों को भूल गये हैं। वैज्ञानिक विवेकवाद और परम्परावादी धर्म से आक्रान्त होकर आज का मानव अपनी भूख मिटाने के लिये अन्य साधन ढूँढ़ रहा है।'

भारतीय संस्कृति में नैतिक चरित्र को विशेष महत्व दिया गया है। नैतिक शिक्षा का प्रारंभ परिवार में होता है। विद्यालय में विद्यार्थी शिक्षकों के अनुकरण से नैतिक नियम सीखता है। नैतिक शिक्षा से जीवन का लक्ष्य स्पष्ट होता है। जीवन का लक्ष्य स्पष्ट किये बिना जीवन अर्थपूर्ण नहीं हो सकता। किसी भी देश की महानता उसकी भौतिक सभ्यता से नहीं, बल्कि उसकी नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति से जॉची जानी चाहिए। शिक्षा में व्यावसायिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कितना भी प्रयास किया जाये, नैतिक शिक्षा के बगैर शिक्षा पूर्ण नहीं हो सकती। आजकल नैतिक शिक्षा का महत्व इसलिए भी बढ़ गया है, क्योंकि संसार को भावी विश्व–युद्ध की विभीषिका से बचाने के लिए मानव प्राणियों की नैतिकता ही एकमात्र आधार है। नैतिकता का यह बीज विद्यालय में ही जमाया जायेगा। राधाकृष्णन् ने लिखा है– 'हमें उचित सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना चाहिए। पूर्ण मनुष्य के लिए आत्मा का आनन्द एवं सौन्दर्य आवश्यक है जो प्रेम तथा आस्था के विकास से संभव है।' इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री अरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर एवं डॉ0 राधाकृष्णन् के दर्शन में नैतिकता को काफी प्रधानता दी गई है और उनके विचारों को आज के मानव को पालन करने की आवश्यकता है ताकि आज के अशान्त मानव को शान्ति की प्राप्ति हो सके। भौतिकता में मानव अपने वास्तविक स्वरूप को भूलता जा रहा है। वर्तमान शिक्षा मूल्य–विहीन होती जा रही है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि हम अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानें एवं अपने जीवन में मूल्यों को उतारने का प्रयास करें। जीवन और शिक्षा को मूल्यप्रधान होना चाहिए। अगर मानव–जीवन नैतिकता पर आधारित होगा, तभी स्वस्थ समाज की स्थापना हो सकती है। ऐसा होने से मानव–मानव के बीच बढ़ती हुई खाईं समाप्त होगी एवं वर्तमान युग में भी मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान सकेगा।

डॉ० विनय कृष्ण तिवारी
(रसायन विभाग)
एस.जी.जी.एस. कॉलेज,
पटना सिटी।

डॉ० कुमारी अनिता
हिन्दी विभाग
आर.पी.एस. कॉलेज,
पटना

डॉ० अंजू कुमारी
पटेल नगर
पटना (बिहार)

विशिष्टाद्वैत में आराधना

डॉ. अनीता कुमारी

वैष्णव–धर्म वस्तुतः ईश्वर–संकीर्तन है। उसमें सर्वत्र ईश्वर की सर्व–व्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता तथा उदारता की चर्चा की गई है। वैष्णव धर्मों में ईश्वर को विश्व में व्याप्त तथा परे दोनों ही स्वीकार किया गया है। ईश्वर सर्वभूतों का पालक, सर्वभूताधिपति तथा अन्तर्यामी माना गया है। ईश्वर प्राणियों का नियामक है। जीवात्मा पूर्णतः परमात्मा के अधीन है तथा केवल परमात्मा ही उसे मुक्ति प्रदान कर सकते हैं।

धार्मिक–चिन्तन एवं उपासना के उत्तरकालीन विकास में विशिष्टाद्वैत दर्शन, जिसे धर्म के क्षेत्र में श्री–सम्प्रदाय की संज्ञा से अभिहित किया जाता है, का सक्रिय योगदान है। इस धार्मिक सम्प्रदाय के उपास्य भगवान् विष्णु हैं और इस सम्प्रदाय के अनुयायी भागवत कहे जाते हैं। इस धर्म में ईश्वर की भक्ति का अर्थ ईश्वर का सतत अनुचिन्तन है। रामानुज की तो मान्यता ही है कि भक्ति (और प्रपत्ति) ही मोक्ष का अनन्य साधन है और इससे प्रसन्न हुए ईश्वर ही मुक्तिदायक हैं–

भक्तिः प्रपत्तिः सुप्रीतः ईश्वरो मुक्तिदायकः।
अतो भक्तिः प्रपत्तिः हि मुक्तोः परमकारणः।।

भक्ति और प्रपत्ति विशिष्टाद्वैत दर्शन में मुक्ति का मुख्य कारण हैं क्योंकि ये भगवत्–प्रसादन द्वारा मुक्ति का कारण बनती हैं। श्री–सम्प्रदाय में मुक्ति उपायजन्य स्वीकार की गयी है जो साध्योपाय और सिद्धोपाय के भेद से द्विविध है। भक्ति और प्रपत्ति साध्योपाय हैं क्योंकि इनका पर्यवसान भगवान् को प्रसन्न करने में होता है तथा भगवान् स्वयं सिद्धोपाय हैं क्योंकि वे ही प्रसन्न होकर साधक को मुक्ति प्रदान करते हैं। रामानुजदर्शन में ज्ञानयोग तथा कर्मयोग भक्तियोग के अंगरूप हैं। अतः कर्मयोग तथा ज्ञानयोग साक्षात् रूप से नहीं अपितु परम्परया अर्थात् भक्ति के अंगभूत होने से ही मोक्ष के साधन स्वीकार किये गये हैं। यामुनाचार्य ने *गीतार्थ–संग्रह* में भक्तियोग को 'ज्ञानकर्माभिनिवर्त्य' कहा है। कर्मयोग के पालन से जीव के पाप दूर होते हैं तथा ज्ञान उत्पन्न होता है अथवा कभी साक्षात् रूप से भी भक्ति का उत्पाद्य बनता है। ज्ञानयोग तो साक्षात् रूप से भक्तियोग का साधन है ही।

भक्ति को प्रमुखता प्रदान करने से रामानुज के समक्ष ज्ञान के महत्व के प्रतिव्यापक शास्त्रीय वचनों के साथ सामंजस्य का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व आ पड़ा। रामानुज ने अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण से इस समस्या का समाधान बड़ी सूझ–बूझ से किया है। उनका मत है कि धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित ज्ञान का तात्पर्य ध्यान–निदिध्यासन अर्थात् एकाग्र–समाधि से है। भक्ति की यह साधना इस सत्य पर कि ईश्वर ही हमारा अन्तस्तम आत्मतत्व है तथा जीव उसी तत्व का प्रकार है– के एकाग्र चिंतन पर निर्भर है। किन्तु जीव को इस प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति तब तक संभव नहीं होती जब तक दुष्ट कर्मों का विनाश न हो जाय। इस दिशा में निष्काम कर्म ही हमारा सहायक होता है। निष्कामभाव से कर्म करने से पूर्व संचित कर्म समाप्त हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में रामानुज का मत है कि शास्त्रों में बताये विहित कर्मों का निस्वार्थ प्रतिपादन उद्देश्य की सिद्धि में सहायक होता है। यह तो ध्रुव सत्य है कि यज्ञ आदि कर्मकाण्डों का परिणाम अस्थायी है और ईश्वर–ज्ञान का फल अक्षय है। किन्तु यदि हम ईश्वरार्पण भाव से शास्त्र–विहित कर्मों का सम्पादन करें तो इस प्रकार का कर्म मुक्ति का परम्परया साधन होता है। परम्परा के अनुसार शास्त्र–विहित कर्मों के पॉच प्रकार बताये गये हैं– (1) स्वाध्याय (2) ईश्वरोपासना (3) पूर्वजों के प्रति कर्तव्य (4) मनुष्य के प्रति कर्तव्य तथा (4) पशु–सृष्टि के प्रति कर्तव्य। इस प्रकार के किये गये कर्म सात्विक प्रकृति का विकास करते हैं तथा पदार्थों के विषय में सत्यज्ञान को ग्रहण करने में आत्मा के सहायक होते हैं। कर्मों से प्राप्त होनेवाले फलों के प्रति आसक्त हुए बिना समस्त कर्मों, विधियों एवं संस्कारों को सम्पादित करना कर्मयोग है। रामानुज ने देवपूजन, तपश्चरण, तीर्थयात्रा, दान एवं यज्ञ को विधि माना है। कर्मयोग आत्मा को पवित्र करता है तथा साधक को ज्ञानयोग की ओर उन्मुख करता है। वेदान्त देशिक के अनुसार ईश्वर स्वयं अपने ही जीव द्वारा अपने ही उपकरणों से अपनी ही आराधना के लिए स्वयं कर्म करवाते हैं। कर्मयोग से जीव का क्लेष दूर होता है तथा ज्ञान की उत्पत्ति होती है, अतः कर्मयोग को विशिष्टाद्वैत दर्शन में परम्परया या साक्षात् मोक्ष का साधन माना जाता है।

रामानुज के अनुसार कर्मयोग द्वारा निर्मल अन्तःकरण पुरुष के आत्मतत्त्व (जीव) को ईश्वर द्वारा नियंत्रित, शासित और प्रकृति से विमुक्त जानकर उसका चिन्तन करना ज्ञानयोग है। यामुनाचार्य के अनुसार परिशुद्ध जीवात्मा की उपासना ही ज्ञानयोग है। यह ज्ञानयोग ही भक्ति की ओर ले जाता है। यम, नियम आदि अष्टांग योग के आचरण द्वारा भगवान् का सतत ध्यान भक्तियोग है। *लिंगपुराण* में– 'स्नेहपूर्वकमनुध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते' भक्ति का लक्षण किया गया है। विशिष्टाद्वैत दर्शन में स्नेहपूर्वक भगवान् का तैलधारावत् अविच्छिन्न ध्यान ही भक्ति है। *यतीन्द्रमतदीपिका* का भी मत है कि भक्तियोग भगवान् की यम, नियम आदि अष्टांगयुक्त तैलधारावत् अविच्छिन्न स्मृति है।

रामानुज के दर्शन में भक्ति मनुष्य की ईश्वर के पूर्णतम ज्ञान तक मौन रूप से एकाग्र समाधिपूर्वक पहुँचाने का नाम है। उन्होंने भक्ति की पूर्ण साधनयुक्त तैयारी पर बल दिया है। उनके अनुसार भक्तियोग की प्राप्ति साधनों से होती है। अतः इसे साधन–सप्तकजन्य कहा गया है। ये सात साधन क्रमशः विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुघर्ष हैं। विवेक से तात्पर्य पवित्र अन्न द्वारा शरीर का शोधन या रक्षण है। आहार तीन कारणों से दुष्ट होता है – जातिदुष्ट, आश्रयदुष्ट तथा निमित्तदुष्ट। माँस, लहसुन, प्याज आदि जातिदुष्ट हैं। वेश्या का अन्न खाना, पतित स्वामी से अन्नग्रहण करना आश्रय–दुष्ट है। किसी कारण से दुष्ट होना जैसे कुत्ते द्वारा जूठा होना निमित्त–दुष्ट है। विमोक का तात्पर्य कामनाओं में अनासक्ति है अर्थात् वासनाओं, काम–क्रोध आदि का त्याग। जब तक चित्त पापरहित नहीं होगा तब तक उसमें भक्ति का उदय नहीं हो सकता। अभ्यास ईश्वर का ध्यान करना, बार–बार चित्त को उसमें लीन करना है। क्रिया का अर्थ है अपने साधनों के अनुसार पंचमहायज्ञों एवं संस्कारों का सम्पादन। पाठ, होम, अतिथिपूजन, तर्पण तथा बलि ये पाँच महायज्ञ हैं। सत्य, अहिंसा, दया, दान, सच्चरित्रता आदि सद्गुणों का अर्जन करना कल्याण है। अनवसाद अर्थात् सदा प्रसन्न रहना, खेद और निराशा के उपस्थित होने पर भी दुःखी न होना है। अनुघर्ष का तात्पर्य अतिसन्तोष का अभाव है। सुख का हेतु उपस्थित होने पर भी उससे अत्यधिक हर्षातिरेक का न होना अनुघर्ष है। रामानुजीय दर्शन में इस भक्यिोग की साधना का विधान जीवन–पर्यन्त करने का आदेश दिया गया है। भक्ति ईश्वर का ज्ञान तो है ही, उसकी इच्छा के प्रति वंशबद्धता भी है। भक्ति अपनी समस्त मानसिक शक्ति तथा हृदय के द्वारा ईश्वर से प्रेम करने का नाम है। इस भक्ति का पर्यवसान अर्न्तदृष्टि से ईश्वर के साक्षात्कार में होता है।

यतीन्द्रमतदीपिका के लेखक श्री निवासदास के अनुसार वेदन, ध्यान, उपासना आदि शब्द भक्ति के ही पर्याय है। *वेदार्थसंग्रह* में रामानुज ने साधन–भक्ति तथा पराभक्ति के भेद से भक्ति को द्विविध माना है। साधन–भक्ति में शरीर, मन, और वाणी का नियंत्रण, अपने कर्तव्य का पालन, स्वाध्याय तथा अनासक्ति आदि का समावेश होता है। यह साधनभक्ति विवेक, विमोक आदि सप्तसाधनजन्य होती है तथा पराभक्ति ईश्वरजन्य होती है।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में भक्ति और मुक्ति अंगॉगि–भाव से परस्पर सम्बद्ध हैं। यहाँ तक कि भक्ति की प्रत्येक अवस्था में हम अपने को पूर्णता प्राप्त करा रहे होते हैं। रामानुजीय दर्शन में भक्ति परिणामस्वरूप में मुक्ति है तथा अन्य उपायों से सर्वोत्तम स्वीकार की गयी है क्योंकि यह स्वयं अपना पुरस्कार है। भक्ति के द्वारा आत्मा ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध के प्रति अधिक अभिज्ञा प्राप्त कर लेती है। मुक्ति के साधनरूप भक्ति के दो रूप स्वीकार किये जाते हैं – वैधी (औपचारिक) तथा

मुख्या (श्रेष्ठ)। वैधी भक्ति का स्तर निम्न माना गया है जिसमें साधक प्रार्थना, कर्मकाण्ड तथा मूर्तिपूजा में संलग्न रहता है। भक्ति का यह रूप आत्म–शुद्धि में सहायक होता है, किन्तु स्वयं मुक्ति का कारण नहीं होता। रामानुज का मत है कि मुक्ति के लिए सर्वोपरि प्रभु की ही पूजा करनी चाहिए क्योंकि भक्ति की परमावस्था में अन्य कोई ध्यान का विषय नहीं बन सकता।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में मोक्ष–प्राप्ति में प्रपत्ति का विशेष महत्व स्वीकार किया गया है।। प्रपत्ति ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण है तथा भागवत् मत में इसे मुक्ति का सबसे उपयुक्त साधन माना गया है। श्रीनिवासदास प्रपत्ति को भक्ति का ही अंग मानते हैं किन्तु लोकाचार्य भक्तियोग और प्रपत्तियोग को पृथक्–पृथक् स्वीकार करते हैं। श्रीनिवासदास के अनुसार भक्ति में वैवर्णिकों और देवताओं का ही अधिकार है, शूद्रों का नहीं। किन्तु प्रपत्ति का मार्ग सभी के लिए खुला है। कोई भी साधक गुरु से दीक्षा ग्रहण कर अपने को ईश्वर के प्रति समर्पित कर सकता है और उनका आश्रय प्राप्त कर सकता है। रामानुज का दृढ़ मत है कि ईश्वर जाति, आकार, स्वभाव, ज्ञान आदि पर ध्यान न देकर प्रपत्त मात्र को शरण देते हैं। विशिष्टद्वैत का दक्षिणी सम्प्रदाय टेंगलाई – जो आलवारों की परम्परा का पूर्ण निर्वाह करता है – के अनुसार प्रपत्ति ही मोक्ष का एकमात्र साधन है और भक्त को मुक्ति–प्राप्ति हेतु और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर उस साधक का तो अवश्य उद्धार करते हैं जो उनके प्रति स्वयं को समर्पित कर देता है। उत्तरी सम्प्रदाय बड़गलाई के अनुसार प्रपत्ति लक्ष्य की प्राप्ति का अन्यतम उपाय तो है किन्तु एकमात्र उपाय नहीं है। इस मत में मोक्ष–प्राप्ति हेतु मानवीय पुरुषार्थ की आवश्यकता स्वीकार की गयी है। ऐसा साधक जिसने अपने को कर्म, ज्ञान तथा भक्ति तथा प्रपत्ति से योग्य बना लिया है, प्रभु की दया प्राप्त करता है। उत्तरी सम्प्रदाय मुक्ति की धारणा स्पष्ट करने के लिए मर्कटन्याय का उदाहरण देता है। इस धारणा के अनुसार जिस प्रकार बन्दर का बच्चा इधर–उधर जाने में अपनी मॉ के पेट को पकड़े रहता है – अर्थात् उसे कुछ पुरुषार्थ भी करना होता है, उसी प्रकार साधक को भी ईश्वर–कृपा के अतिरिक्त स्वयं भी पुरुषार्थ–साधन करना होगा। दक्षिणी सम्प्रदाय मार्जार–न्याय का उदाहण देता है। उनका मत है कि जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चों को मुॅह में दबाकर इधर–उधर ले जाती है, बच्चों को कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार साधक को भी मोक्ष–प्राप्ति हेतु पुरुषार्थ–साधन की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर स्वयं ही मोक्ष–प्राप्ति हेतु योग्य व्यक्ति का चुनाव करते हैं।

रामानुज का मत है कि इन उपायों से संबंधित भक्ति से ईश्वर की प्राप्ति होती है। जब तक ईश्वर की कृपा न हो तब तक व्यक्ति का प्रसन्न होना भी सम्भव नहीं। भक्ति यों तो पुरुष–प्रयत्न साध्य है किन्तु प्रपत्तियोग में ईश्वर के अनुग्रह रूप सहायता की महती अपेक्षा है। इसलिए प्रपत्तियोग में साक्षात् ईश्वर को सिद्धोपाय

माना गया है। प्रपत्तियोग की प्राप्ति तो केवल उन्हीं को होती है जिन पर ईश्वर स्वयं कृपा करते हैं। इसीलिए रामानुज ने अपने *शरणागति पथ* में ईश्वर से बार–बार यह प्रार्थना की है कि वे उन्हें परज्ञान तथा परभक्ति से युक्त करें। ईश्वर में अनुराग परमभक्ति है और तदनन्तर प्राप्त किया जानेवाला ईश्वर के स्वरूप और ऐश्वर्य का विशेष ज्ञान कि ईश्वर उपास्य है तथा जीव उपासक या सेवक मात्र है, परज्ञान कहलाता है। इसी ज्ञान के पश्चात् भगवान् में होनेवाली दृढ़ आस्था परमभक्ति है। इस स्थिति में जीव कैंकर्यभाव से निरन्तर भगवत्–आराधना में लीन रहता है। यह साध्य भक्ति या प्रपत्ति साधनभक्ति या भक्तियोग से श्रेयस्कर है क्योंकि जहाँ भक्तियोग से केवल प्रारब्ध कर्मों का नाश होता है वहाँ प्रपत्तियोग से संचित, प्रारब्ध तथा संचीयमान सभी कर्मों का नाश हो जाता है। प्रपत्त यदि भगवान् के भक्तों के साथ दुर्व्यवहार न करे तो उसकी मुक्ति में तो कोई सन्देह है ही नहीं अर्थात् उसकी मुक्ति तो निश्चित है। *लक्ष्मीतंत्र* में प्रपत्ति को न्यास कहा गया है और उसे पंचांगयोगयुक्त बताया गया है –

आनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्य वर्जनम्
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा
आत्मनिक्षेप कार्पण्ये, षड्विधा शरणागतिः।

आनुकूलस्य संकल्प, प्रतिकूलस्य वर्जन, महाविश्वास, गोप्तृत्ववरण तथा कार्पण्य को अंग तथा आत्मनिक्षेप को अंगी मान कर प्रपत्ति के छः अंग भी बताये गये हैं। *अहिर्बुध्न्यसंहिता* में शरणागति उपर्युक्त छः प्रकार की ही बतायी गयी है। श्रीनिवासदास ने आत्मनिक्षेप और कार्पण्य का एक में समावेश करके पंचांग–युक्त प्रपत्ति स्वीकार की है। इन षडंगों का अर्थ भगवान् के अनुकूल रहने का संकल्प, भगवान् के प्रतिकूल न जाना, भगवान् हमारी रक्षा करेंगे यह विश्वास, जिससे रक्षक के रूप में उनका न वरण करना, गोप्तृत्वेवरणं अर्थात् अपने को भगवान् के ऊपर स्वयं को डाल देना, कार्पण्य अर्थात् हीनता का भाव या अपनी कमियों का अनुभव तथा आत्मनिक्षेप अर्थात् आत्मसमर्पण है। *शरणागति गद्य* में रामानुज ने इस प्रपत्ति को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया है। *अर्थपंचक* में आचार्याभिमानयोग नामक एक अन्य मार्ग का भी उल्लेख किया गया है। यह मार्ग उन व्यक्तियों के लिए है जो अन्य मार्गों का अनुगमन नहीं कर सकते। इस मार्ग में आचार्य के समक्ष आत्मनिक्षेप एवं प्रत्येक विषय में उनके द्वारा संचालित होने का विधान है। जिस प्रकार माता शिशु की चिकित्सा करने के लिए औषध–ग्रहण करती है, उसी प्रकार आचार्य वह सब करता है जो उसके शिष्य की मुक्ति के हेतु आवश्यक है।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में आराध्य देव विष्णु को स्वीकार किया गया है तथा उनकी उपासना के लिए षोडशोपचार का विधान है। इनमें आठ उपचार तो *भागवतपुराण* में वर्णित नवधाभक्ति के हैं– अर्चना, वन्दना, दासता, सेवन, स्मरण,

कीर्तन, श्रवण तथा आत्मनिवेदन केवल सख्यभाव को छोड़ दिया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य आठ उपाय ये हैं – शरीर पर शंख, चक्र एवं हरि के अन्य आयुधों के लक्षण अंकित करना, ललाट पर लंबी रेखा अंकित करना, समय पर मन्त्रों का जाप करना, हरि के चरणामृत का पान करना, हरि को समर्पित किया हुआ नैवेद्य ग्रहण करना, भगवत्–भक्तों की सेवा करना, प्रत्येक मास की कृष्ण एवं शुक्ल पक्षों की एकादशी को व्रत रखना तथा हरि की प्रतिमा पर तुलसी–पत्र चढ़ाना।

रामानुजीय दर्शन की धार्मिक परम्परा में भक्ति का स्वरूप ईश्वर का निरन्तर चिन्तन है। इस प्रकार रामानुज द्वारा प्रतिपादित भक्ति का स्वरूप बादरायण द्वारा वर्णित उपासना के तुल्य है। उन्होंने अपने दर्शन में पारम्परिक भक्ति को पूर्ण ब्रह्मपरक बनाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। निश्चय ही रामानुज दार्शनिक होने के साथ ही साथ धार्मिक क्षेत्र की महान् प्रतिभा थे जिसमें दार्शनिक भाव के साथ–साथ धार्मिक आकांक्षाएँ भी उतनी ही प्रबल थीं। इसीलिए वे अपने आप में पूर्ण तथा सुसंगत धार्मिक दर्शन की प्रतिष्ठा का कार्य अत्यंत सफलतापूर्वक कर सके तथा अपनी इस महत्वपूर्ण देन के कारण उन्होंने दर्शन और धर्म दोनों ही क्षेत्रों में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। वैष्णव–दर्शन एवं धार्मिक परम्परा में रामानुज तथा उनके द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक एवं धार्मिक सम्प्रदाय का विशिष्ट स्थान एवं महत्व है।

1. आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ता जगदन्तरव्यवस्थिताः।
प्राणिनः कर्मजनित संसारवशवर्तिनः।।
यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः।
अविद्यान्तर्गताः सर्वे ते हि संसारगोचराः।।

2. अर्चनं वन्दनं दास्यं सेवनं स्मरणं तथा।
कीर्तन श्रवणं सख्यं तथैवात्मनिवेदनम्।।

मंगल भवन, चकारा, श्रीकृष्णनगर,
पटना–800001

आर्य-समाज एवं राष्ट्रीयता

सुश्री करुणा शर्मा

आर्य–समाज की स्थापना 6 अप्रैल 1875 को महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा बम्बई (मुम्बई) में की गयी थी। इस स्थापना का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय राजनैतिक जागरण तथा सामाजिक एवं धार्मिक सुधार (Reform) था। शिक्षा, विशेष रूप से स्त्री–शिक्षा, निम्न अथवा अछूत समझे जाने वाले सामाजिक वर्ग का उत्थान, महर्षि के मुख्य लक्ष्यों में से थे।

आज 'आर्य–समाज' को पुनः इसके सही रूप में समझने की आवश्यकता है। लाला लाजपत राय के इस वाक्य पर ध्यान अपेक्षित है :

"The Arya Samaj can have no loftier or nobler ambition than that it's entire teachings or at least it's spirit, may be adopted by Hinduism as it's own, but we should deplore it's being merged in Hinduism or in any other ism".[1]

'आर्य समाज' क्या है? विषय पर न्यायालयों में भी चर्चा हुयी है। दिल्ली हाईकोर्ट ने अपने एक फैसले'[2] में कहा "आर्य समाज, हिन्दुइज्म का एक परिष्कृत वर्ग है।" लेकिन भारतीय उच्चतम न्यायालय में कहा कि 'आर्यसमाज' हिन्दूइज्म का मात्र एक वर्ग नहीं है, अपितु अल्पसंख्यक धार्मिक समुदाय है।[3]

आर्य–समाज के प्रारंभिक इतिहास से ऐसा लगता है कि मूल आर्य–समाजी ही नहीं अपितु सनातनी भी इस बात को मानते थे कि आर्यसमाजी मूल रूप से हिन्दू नहीं हैं।

स्वामी श्रद्धान्द के ही शब्दों में–

"In fact, the Aryas do not like to be classed with Hindus, and many census reports can bear testimony to this fact".[4]

आर्य–समाजियों को हिन्दू मानने का मुख्य कारण रहा है स्वतंत्र से पहले विद्यमान राजनैतिक हालात जहां ब्रिटिश हुकूमत हिन्दू–मुस्लिमों पर अत्याचार करती थी। उन राजनेताओं की दृष्टि में दो ही वर्ग थे– हिन्दू तथा मुस्लिम। वे आर्य समाजियों को हिन्दुओं से पृथक् नहीं समझते थे, क्योंकि संकट के दिनों में आर्यसमाजी तथा सनातनी कन्धें से कन्धा मिलाकर, ब्रिटिश कुशासन का पुरजोर विरोध करते थे।

यहां यह समझना महत्वपूर्ण है कि महर्षि के समाज–सुधार कृत्यों में जाति–प्रथा तथा छुआछूत को सामाजिक उन्नति में प्रमुख बाधा माना जाता है। लेकिन यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आर्य समाज की लोकप्रियता समाज–सुधार, शिक्षा, राष्ट्रीय एवं समाज कल्याण सम्बन्धी क्रिया–कलापों से बढ़ी थी। धार्मिक सुधारों के हिसाब से तो यह अलग–थलग ही है, क्योंकि आज भी महर्षि के सिद्धान्तों के खिलाफ आर्य–समाजी, किसी न किसी रूप में मूर्ति पूजा को अपनाते हैं। बढ़ते आर्य–समाज मन्दिर किसी न किसी रूप में Godmen तथा स्वयं महर्षि एवं उनके अनुयायियों की मूर्तियों का आविर्भाव इस बात का प्रमाण है।[5]

मुझे तो ऐसा लगता है कि वर्तमान शताब्दी में हमें बहुत सी समस्याओं का निराकरण वर्तमान काल के संदर्भ में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखकर करना पड़ेगा। बड़ी मजेदार बात है कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ जैसे हिन्दुत्व–वादी कठोर–पन्थी आज मानने लगे हैं कि हिन्दू या हिन्दुइज्म किसी धर्म विशेष के पर्यायवाची नहीं हैं। उनके विचार में हिन्दुइज्म जीने का एक तरीका (Way of life) है। इसका अर्थ है, बिना सनातन धर्मी होने पर भी कोई भी नागरिक 'हिन्दू' कहलाया जा सकता है, यदि वह भारतीय समाज तथा संस्कृति का पोषक है। इस अर्थ में आर्य समाजी भी हिन्दू कहलाया जा सकता है। इस धारणा से यह लाभ होगा कि सिक्ख, जैन तथा बौद्ध भी उत्तम प्रकार के हिन्दू सामाजिक–व्यवस्था के अन्तर्गत आने में संकोच नहीं करेंगे, अर्थात् हमारा धर्म भारतीय होना चाहिए, हम सबको 'भारत' को 'मां' के रूप में ही ग्रहण करते हुये, तन–मन–धन से इसकी सेवा करनी चाहिए, ऐसा करने से ही हमारे स्वतंत्रता–संग्राम के वीर साहसी सेनानियों को सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित हो सकेगी तथा 'भारत' अखण्ड भारत ही रहेगा।

आर्य समाज का भारत की स्वतंत्रता–प्राप्ति में बड़ा हाथ रहा है। आर्य समाज ने देश की सामाजिक और राजनैतिक जागृति में बड़ा कार्य किया है। सामूहिक रूप से नहीं तो वैयक्तिक रूप से सहस्रों (हजारों) आर्यों ने देश के लिए बलिदान किया है। आर्यसमाज ने भारत को आदर्श बनाने के लिए बलिदान, तप, त्याग और सेवा की क्रियात्मक शिक्षा दी। वास्तव में आर्यसमाज का कार्य–क्षेत्र बहुत विस्तृत रहा है। आर्य–समाज मानव–निर्माण करने वाली संस्था है। समाज और जाति के गठन का मूल्य है व्यक्तित्व का विकास।

स्वामी विवेकानन्द भी कहा करते थे– "Man-Making is my mission" अर्थात् सच्चे मानव का निर्माण करना ही मेरे जीवन का उद्देश्य है। यही वैदिक धर्म और आर्य समाज का उद्देश्य भी है। वेदों में कहा गया है–

मनुर्भव जनमा दैव्यं जनम् — ऋ. 10/53/6

अर्थात् मनुष्य बन, देव–हित–कारी, दिव्य–मानव को उत्पन्न कर। वेद का उद्देश्य मानव को देवत्व के मार्ग पर ले जाना है।

वैदिक धर्म विस्तृत और विशाल है। वह सर्वधर्म समन्वयवाद में विश्वास करता है। वह धर्म के नाम पर मानवों का हनन नहीं सिखाता, अपितु सहिष्णुता की शिक्षा, विश्व, शान्ति और विश्व–भ्रातृत्व का पाठ पढ़ाता है।

आज विश्व को वैदिक सन्देश की आवश्यकता है। हमें पूर्ण विश्वास है कि स्वतंत्र भारत में आर्यों द्वारा वैदिक प्रचार की दुन्दुभी विश्व भर में स्वतन्त्रतापूर्वक बजेगी। आर्य समाज को राजनैतिक साम्राज्य की अभिलाषा नहीं है, वह तो भारतीय संस्कृति का साम्राज्य विश्व के कोने–कोने में स्थापित करना चाहता है। आज भी विश्व के स्याम, सुमात्रा, जावा, बाली आदि देशों में भारतीय संस्कृति का अनुकरण होता है। भारत में इन सांस्कृतिक सम्बन्धों को दृढ़ और विस्तृत करना हमारा ध्येय होगा।

आर्यसमाज को राजनैतिक क्षेत्र में कूदना है या नहीं, यह विचारणीय है। आर्य समाज भारत में भारतीयता का लोप होना कदापि स्वीकार नहीं करेगा, क्योंकि वह अहिंसा और भ्रातृत्व चाहता है। भविष्य में आर्य समाज सामूहिक रूप से राजनैतिक क्षेत्र में आयेगा तथा देश का पथ–प्रदर्शन करेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि विज्ञान के इस युग में वैदिक अलख जगाते हुये हममें से प्रत्येक भारतीय को सन्नद्ध होकर अपने उज्ज्वल भविष्य का स्वागत करने के लिए समुद्यत होना होगा तथा उसके लिए भगीरथ प्रयत्न आज से ही आरम्भ करने होंगे।

लेकिन यहां हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अपनी मृत्यु से कुछ ही वर्ष पहले महर्षि दयानन्द सरस्वती ने कुछ निर्देश दिये थे जिनमें उन्होंने बताया था कि आर्य समाज को आगे चलकर अपनी गतिविधियों को कैसे–कैसे संचालित करना है। देश–विदेश में फैले उनके अयुयायियों ने उनके लेखों से ही प्रेरणा ली थी। महर्षि ने न तो अपना कोई आध्यात्मिक उत्तराधिकारी नियुक्त किया और न ही कहीं शैक्षणिक भवन आदि का निर्माण करवाया। उनके लेख तथा प्रसिद्ध कृति *'सत्यार्थ प्रकाश'* ही उनके अनुयायियों के लिये प्रेरणा–स्रोत बने। वैसे तो महर्षि के गहन विचारों को हम *सत्यार्थ–प्रकाश* में पाते हैं फिर भी दृढ़–संकल्पी आर्य–चिन्तक अपनी लेखनी से महर्षि के विचारों को संदेश के रूप में जन–जन तक पहुंचाने का कार्य कर रहे हैं। 'आर्य–जगत्' आदि पत्रिकायें इस बात को प्रमाणित करती हैं।

आर्य–समाज स्थापना के सात वर्ष पूर्व महर्षि दयानन्द सरस्वती ने समाज में व्याप्त पाखण्डों, अन्धविश्वासों तथा अवैदिक धारणाओं के समूल नाश हेतु वैदिक मोहन आश्रम, भूपतवाला, हरिद्वार में जिस पाखण्ड–खण्डिनी–पताका को गाड़ा था उसके जीर्णोद्धार का कार्य आर्य–बन्धुओं तथा विचारकों द्वारा प्रारम्भ कर दिया गया है। इस कार्य को प्रारम्भ करने के अवसर पर कुछ आर्य विद्वानों ने 'आर्य समाज' को सत्य–सनातन–हिन्दू धर्म (Hinduism) का परिष्कृत रूप माना है।

जो कुछ भी हो, वर्तमान समय में हम पाते हैं कि आर्यसमाज देश के विभिन्न भागों में महत्वपूर्ण शैक्षणिक, सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्र में अपना पूर्ण सहयोग दे रहा है। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ऋषि–परम्परा का ज्वलन्त उदाहरण है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि 'आर्यसमाज' की स्थापना परतंत्र भारत में हुयी थी। यह स्थापना विशुद्ध प्रजातांत्रिक ढंग से, वेदानुसार श्रेष्ठ मानव–निर्माण के लिये की गई थी। लेकिन आर्यसमाज 'दारुल–इस्लाम' के स्वप्न को भी नहीं भूलता। हैदराबाद के निजाम ने हिन्दुओं तथा आर्यसमाज को कुचलने का हर प्रयत्न किया। ऐसे समय में पु. नरेन्द्र जी तथा नारायण स्वामी जैसे आर्य–संन्यासी ने आर्यसमाज के लिये मर–मिटने की कसमें खायीं। वास्तव में यह समय आर्य–समाज के इतिहास में 'विलक्षण–परीक्षा' का समय था। उक्त कर्म–वीरों के आन्दोलनों से भारत में ही नहीं अपितु समुद्र के दूसरी ओर ब्रिटिश पार्लियामेन्ट में भी चिन्ता तथा खौफ व्याप्त था। इस सन्दर्भ में हम घनश्याम सिंह गुप्त तथा देशबन्धु गुप्त की सेवाओं को भी सदा याद करते हैं।

आर्य–समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती को राष्ट्रकवि दिनकर ने 'क्रान्तिकारी–समाज–सुधारक कहा है।[6] आर्य–समाज राष्ट्रीयता के लिये किस सीमा तक समर्पित है, कविवर दिनकर के ही शब्दों में देखिये :–

''केशवचन्द्र सेन तथा राणाडे की तुलना में दयानन्द वैसे ही दिखते हैं, जैसे गोखले की तुलना में तिलक। जैसे राष्ट्रीयता के क्षेत्र में सामरिक तेज पूज्य तिलक जी में प्रत्यक्ष दीखता था, वैसे ही संस्कृति के क्षेत्र में भारत का आत्माभिमान स्वामी दयानन्द सरस्वती में प्रस्फुटित एवं प्रत्यक्ष हुआ'। है न विचित्र एवं विलक्षण संयोग– महर्षि दयानन्द सरस्वती 19वीं शताब्दी के महान् समाज सुधारक और युग–प्रवर्तक थे तो रामधारी सिंह दिनकर 20वीं सदी के महान् क्रान्तिकारी राष्ट्रकवि। राष्ट्रकवि से अधिक कौन आर्य समाज की राष्ट्रीयता को समझ सकता है? ज्ञानी ही ज्ञानी की बात को तथा क्रान्तिकारी ही क्रान्तिकारी को पूर्ण रूप से समझ सकते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्र की आजादी की लड़ाई महर्षि दयानन्द सरस्वती के उदय के साथ ही प्रारम्भ हो चुकी थी। *सत्यार्थ प्रकाश* के आठवें समुल्लास में 'स्वदेशी राज्य' को सर्वोपरि कहा है।[7] किसी भी राष्ट्र की उन्नति सुदृढ़ एवं अच्छी शिक्षा से ही सम्भव होती है। स्वामी के सिद्धान्तों के अनुरूप आर्य समाज ने 'लार्ड–मैकाले' की अंग्रेजी–परस्त शिक्षा–प्रणाली के स्थान पर 'स्वदेशी गुरुकुल प्रणाली' को विद्या के शिक्षण–संस्थानों के रूप में अपनाया।

स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा स्थापित गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में महर्षि के सिद्धान्तों के अनुरूप इस विज्ञान के युग में भी चारों वेदों तथा वेदांगों– शिक्षा, कल्प, ज्योतिष, व्याकरण, निरुक्त तथा छंद की शिक्षा हेतु 'प्राच्य–विद्या–संकाय', जिसमें वेद विभाग, संस्कृत विभाग तथा दर्शन विभाग के साथ योग विभाग एवं

प्राचीन भारतीय इतिहास अस्तित्ववान हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अपनी प्रसिद्ध कृति *'सत्यार्थ प्रकाश'* में महर्षि ने शिक्षा–विषयक जो चित्र खींचे थे उन्हीं के अनुरूप आर्य समाज की इस संस्था में, विश्वविद्यालय के संस्थापक स्वामी श्रद्धानन्द ने वैदिक शिक्षा के साथ–साथ अत्याधुनिक विषयों के सह अस्तित्व को अपनाने का स्पप्न देखा था। आज विश्वविद्यालय देश में अकेला ऐसा शिक्षण–संस्थान है जहां वैदिक शिक्षा के साथ सभी आधुनिक विषयों की शिक्षा का पठन–पाठन होता है।

पुनः, आर्यसमाज की राष्ट्रभक्ति कितनी गरिमामयी रही है इसका आप विद्वत्–जन स्वयं आकलन करें। प्रथमतः गुरुकुलों में अंग्रेजों की नीतियों एवं शासन के खिलाफ विद्यार्थियों को आजादी की ही शिक्षा दी गई। फलस्वरूप बहुत से देश–भक्तों का उदय हुआ। यही कारण था कि अंग्रेज शासक गुरुकुलों में बार–बार छापे डालते थे। आर्य समाज का प्रचार–प्रसार करने वाले सैनिकों को प्रताड़ित किया जाता था। यहां तक कि 'आर्यसमाजों' को अंग्रेजों ने 'राज्य विरोधी संगठन' का नाम दिया था, क्योंकि आजादी की लड़ाई लड़ने वालों में आर्य समाजियों की संख्या बहुत होती थी।

हम सब जानते हैं कि 'भारत–माता' ने पराधीनता में 800 वर्षों के मुस्लिम शासकों के घावों को ही नहीं बल्कि 200 वर्षों तक ब्रिटिश शासकों के क्रूर अत्याचारों को भी बर्दाश्त किया है। भारत के स्वतंत्रता–संग्राम को हमने अहिंसा से जीता है, ऐसा बहुत से भारतीय नेता कहते रहते हैं। कितना आश्चर्य है, हमारा हृदय कितना विशाल है ? क्या 1857 का गदर अहिंसक था? भगत सिंह, राजगुरु, सुखदेव को फांसी पर लटकाना अहिंसक था? खुदीराम बोस की फांसी तथा सुभाषचन्द्र बोस का बलिदान अहिंसक था? क्या राम प्रसाद बिस्मिल को फांसी नहीं दी गई? मैं तो ऐसा सोचती हूं कि हमें स्वतन्त्रता की प्राप्ति बहुत बड़ी कीमत चुकाने के बाद ही प्राप्त हुई। एक ओर जहां सुभाष चन्द्र बोस, भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, राम प्रसाद बिस्मिल, असफाक उल्ला खां, खुदीराम बोस, वीर सावरकर जैसे गरम–दल के सेनानी थे वहीं दूसरी ओर महात्मा गांधी, सरदार पटेल, जवाहर लाल नेहरू आदि नरम–दल के सेनानी थे।

इस तथ्य में कोई भी सन्देह नहीं है कि स्वतंत्रता के आन्दोलन में बढ़–चढ़ कर भाग लेते हुए आर्य समाज ने राष्ट्रीयता के प्रति अपना पूर्ण फर्ज अदा किया है। क्या हम महर्षि दयानन्द सरस्वती के इस कथन को भूल सकते हैं? :– ''कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि तथा उत्तम होता है।'' इस सन्दर्भ में एक उदाहरण देखिये:– एक बार एक अंग्रेज अफसर ने महर्षि दयानन्द सरस्वती से पूछा कि आप सुबह–सुबह प्रार्थना किया करते हैं, क्यों न आप ब्रिटिश–शासन के स्थायित्व के लिए भी प्रार्थना करें। महर्षि का राष्ट्रीयता से

ओत–प्रोत यह वाक्य देखियेः-- ''मैं तो प्रतिदिन ईश्वर से यही प्रार्थना करता हूं कि भारत से विदेशी शासन शीघ्र समाप्त हो।'' क्या निर्भीकता है! क्या राष्ट्रीयता है! ऐसे थे आर्य–समाज के संस्थापक।

ऐसी है आर्य–समाज की राष्ट्रीयता।

दर्शन एवं धर्म विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

संदर्भ

1. *Lala Lajpat Rai*
2. *A.I.R. 1976, Delhi High Court P. 207.*
3. *A.I.R. 1971 Suprime Court of India, P. 1737.*
4. *The Arya Samaj and it's Detractors, Vedic Magazine Press 1910, p. 126.*
5. *The Arya Samaj- Hindu without Hinduisim- D. Vable, Vikas Pub. House Pvt. Ltd.*
6. *संस्कृति के चार अध्याय– दिनकर*
7. *सत्यार्थ प्रकाश से उद्धृत–आर्य–जगत् 3 से 9 अगस्त 2008 से ग्रहीत*

आस्तिकतावाद के दर्शन की सामाजिक उपादेयता

शिवपूजन विद्यालंकार

भावना–विभेद के आधार पर ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दो तरह के मनुष्य होते हैं जो क्रमशः आस्तिक व नास्तिक कहलाते हैं। आस्तिक इस नश्वर शरीर व भौतिक सृष्टि को गौण मानते हुए ईश्वरीय सत्ता में विश्वास कर उसे प्रधानता देते हैं जबकि नास्तिकों की मान्यता में ईश्वर कुछ नहीं तथा क्षणभंगुर, नाश को प्राप्त होने वाला संसार ही सब कुछ है।

भौतिक उन्नति की चमक से प्रभावित इन नास्तिकों की खोपड़ी (मस्तिष्क) रूपी अजेय दुर्ग में ईश्वर के प्रति दुर्भावना अपना अधिकार इस प्रकार जमा चुकी है कि उसे वहां से निकालना असंभव नहीं तो सरल भी नहीं है। यही स्थिति रही तो एक दिन ऐसा भी आ सकता है कि जब ईश्वर शब्द अंधविश्वास का प्रतीक समझा जाने लगेगा और शब्दकोष से भी बाहर धकेल दिया जायेगा।

अतः यदि समय की यही पुकार है तो क्यों नहीं अपनी निजी विचारधारा को किसी सुरक्षित स्थान पर रखकर खुले दिल व दिमाग से ईश्वर के अस्तित्व व आस्तिकतावाद की सामाजिक उपादेयता के सम्बन्ध में कुछ विचार करने का प्रयास किया जाये।

बौद्धिक विकास हेतु जिज्ञासा आवश्यक है और विवेकशील होने के कारण मानव–स्वभाव में जिज्ञासा का महत्वपूर्ण स्थान है। किसी रहस्य को जानने की ज्ञान–पिपासा को शान्त न होने दें और समझ में न आने वाले प्रत्येक रहस्य को कौतूहल की दृष्टि से उसे समझने का प्रयास करें तो उसका ज्ञान समृद्ध हो सकता है।

क्या, कहां, कौन, कब, कैसे आदि प्रश्नों की विवेचना ही तो दर्शन है। उपर्युक्त प्रश्नवाचक शब्दों के उत्तर ही प्रायः जिज्ञासाजन्य ज्ञान–वृद्धि में सहायक होते हैं। लेकिन आज की भौतिक उन्नति की चकाचौंध में मनुष्य का ज्ञान केवल भौतिक सृष्टि व पांच भौतिक शरीर तक ही सीमित हो चुका है, वह भूल गया है कि वह स्वयं कौन है? कहां से आया है और प्राणों के छूट जाने पर उसे पुनः कहां जाना है? उसके व ईश्वर के बीच क्या सम्बन्ध है ?

सम्भवतः यही कारण है कि आधुनिक युवावर्ग आस्तिकतावाद के दर्शन को अंगीकार करने में हिचकिचाता है।

ईश्वर शब्द से तात्पर्य ऐश्वर्यवान से, धन–दौलत, साधन, सुविधा, ख्याति–यश (कीर्ति) विशाल साम्राज्य व कार्यक्षेत्र तथा बेशुमार व आशु–आज्ञापालक स्वामि–भक्त सेवक प्रायः ऐश्वर्य के प्रतीक हैं। इन विशेषताओं से युक्त जीवन को ऐशोआराम की जिन्दगी भी कहा जाता है, जिसके लिए मानव आदिकाल से प्रयत्नशील रहा है तथा ऐश्वर्य व साम्राज्य–वृद्धि हेतु विभिन्न राजा–महाराजाओं व बादशाहों ने अपने जीवनकाल में अनेक युद्ध किये हैं, जिसके परिणामस्वरूप अपार जन–समूह को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा, फिर भी वह साम्राज्य स्थाई नहीं रहा। आज भी अनेक राष्ट्रों द्वारा अपने पड़ोसी राष्ट्रों पर इस ही अभिप्राय से समय–समय पर आक्रमण किये जाते हैं जिससे जनहानि के अतिरिक्त धनहानि भी स्वाभाविक है। ईश्वर शब्द की उक्त व्याख्या के आधार पर सर्वाधिक ऐश्वर्यवान् वह है जो सर्वशक्तिमान हो, जिसका साम्राज्य, कार्यक्षेत्र अपरिमित व स्थाई हो, जिसका अस्तित्व सर्वदा विद्यमान हो, जो समस्त प्राणीमात्र का नियन्त्रक हो तथा जिसकी इच्छा के विपरीत सृष्टि का कोई भी कार्य सम्भव न हो। यह सर्वविदित है कि आज तक विश्व का कोई भी चक्रवर्ती सम्राट इस परिभाषा की परिधि में नहीं आया। उसका साम्राज्य भूमण्डल के किसी सीमित क्षेत्र में सीमित अवधि के लिए ही रहा होगा, उसके विरोधी भी अवश्य होंगे, उसका जीवन भी सीमित अवधि का होगा अर्थात् अपने जीवनकाल के पूर्ण होने पर पंचत्व को अवश्य प्राप्त हुआ हो, वह भी किसी अदृश्य शक्ति की आराधना व उपासना अवश्य करता होगा, जो यह स्पष्ट करता है कि उस समय उस चक्रवर्ती सम्राट से भी ऊपर कोई नियन्त्रक शक्ति अवश्य थी। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐश्वर्यवान् सत्ता (शक्ति) थी, वही ईश्वर है। उससे अधिक ऐश्वर्यवान् आज तक न कोई हुआ है और न होगा। इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने ईश्वर की स्पष्ट युक्ति–संगत व्याख्या की है। ईश्वर कोई शरीरधारी व्यक्ति नहीं है, अपितु निराकार चैतन्य शक्ति है। वर्तमान व भविष्य में होने वाली वैज्ञानिक खोज भी दयानन्द द्वारा परिभाषित इस प्रकार के ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार नहीं कर सकती।

आर्योद्देश्य रत्नमाला के रचयिता श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ईश्वर शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जिसके गुण, कर्म, स्वभाव और स्वरूप सत्य ही हैं जो केवल चेतन मात्र वस्तु है तथा जो अद्वितीय सर्वशक्तिमान, निराकार, सर्वव्यापक, दयालु और अजन्मादि है, जिसका कर्म जगत् की उत्पत्ति, पालन और विनाश करना तथा सब जीवों को पाप–पुण्य के फल ठीक–ठीक पहुंचाना है, इसको ईश्वर कहते हैं।

यह देश का दुर्भाग्य कहा जाना चाहिए कि आज स्थान–स्थान पर विभिन्न तथाकथित देवी–देवताओं के मन्दिर विद्यमान हैं तथा उनके अनुयायियों की भी विभिन्न मान्यताएं हैं जो मत–मतान्तरों के रूप में देशवासियों के मध्य विभाजक–रेखा का कार्य कर रही हैं। यद्यपि 8 वसु (पृथिवी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्र), 11 रुद्र (प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय व जीवात्मा) 12 आदित्य (वर्ष के 12 महीने), 1 इन्द्र (विद्युत), 1 प्रजापति का देवताओं के रूप में वर्णन प्राप्त होता है, किन्तु वेदों में कहीं भी इन 33 देवताओं को उपास्य नहीं कहा है अपितु इनसे भिन्न ईश्वर ही को जगत् का कर्ता–धर्ता संहर्ता व उपास्य कहा है। ईश्वर इन देवताओं का भी देवता है क्योंकि ये सभी इस ईश्वर के नियमों में रहकर ही जगत् के विभिन्न कार्य करते हैं। अतः एक ईश्वर ही अद्वैत अर्थात् अद्वितीय है। *अथर्ववेद* में स्पष्ट कहा है–

न द्वितीयो न तृतीयोश्चतुर्थो वाप्युच्यते न पंचमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते न अष्टमी न नवमी नाप्युच्यते स एष एक वृदेक एव।

अर्थात् न वह दूसरा है, न तीसरा है, न चौथा, न पांचवां, न छठां, सातवां, आठवां और न नवां तथा दसवां है वह तो एक ही है, सजातीय, विजातीय, स्वगत–भेद शून्य वह एक ही है। इसी प्रकार *ऋग्वेद* में उस ईश्वर के अद्वितीय होने का उल्लेख है–

न त्वदन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।

अर्थात् हे भगवान्! तुम जैसा न कोई दिव्य है और न पार्थिव, न कोई हुआ है और न होगा।

इसके अतिरिक्त *यजुर्वेद* में आया है–

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।
यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो वभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

दोनों मंत्रों में भी एक ईश्वर को ही उपास्य माना है।

प्रायः जनसामान्य के मस्तिष्क में प्रश्न होता है कि ईश्वर का निवास कहां है? विभिन्न सम्प्रदायों में ईश्वर के निवास–स्थान के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएं हैं। ईसाई उसे चौथे आसमान पर आसीन मानते हैं, तो मुसलमानों का खुदा सातवें आसमान पर रहता है। जबकि हिन्दू मान्यताओं में किसी का क्षीर सागर में निवास करता है तो किसी का कैलाश पर्वत पर। परन्तु वेद के अनुसार ईश्वर एक स्थान का निवासी न होकर सर्वव्यापक है। यदि वह एक देशवासी होता तो उसका सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, घट–घट का वासी होना किसी प्रकार संभव होता? वह परमेश्वर विश्व के कण–कण में व्याप्त है, उसके लिए अनेक स्थलों पर सर्वगत शब्दों का

प्रयोग हुआ है। *श्वेताश्वतरोपनिषद्* (1.16) में सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् कहकर कहा गया है कि जिस प्रकार दूध में घी अदृश्य रूप से विद्यमान रहता है उसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि में परमात्मा अदृश्य रूप से व्याप्त है। *मुण्डकोपनिषद्* (1.1.6) में नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम् कहकर उसे अत्यन्त सूक्ष्म विभु व नित्य कहा गया है। उस सर्वव्यापक ईश्वर की विद्यमानता प्राणिमात्र में स्पष्ट करते हुए योगिराज कृष्ण ने *गीता* में ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति कहकर यही भाव व्यक्त किया है।

इस प्रकार इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि ईश्वर को सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, संर्वदृष्ट, सर्वज्ञ स्वीकार करना सर्वथा उचित है। ईश्वर की सर्वव्यापकता व अन्तरात्मा में विद्यमानता स्वीकार करने की उपादेयता पर विचार करने से ज्ञात होता है कि दुष्कर्म करने वाला व्यक्ति प्रायः ऐसे एकान्त स्थान की तलाश में रहता है जहां कोई देखने वाला न हो क्योंकि लोग प्रायः पाप से नहीं अपितु पापी कहलाने व पाप करने के फलस्वरूप शासकीय व्यवस्था के अधीन दिए जाने वाले दण्ड से डरते हैं। यदि उनके मन में यह कुछ विश्वास हो जाए कि सृष्टि का संचालक व व्यवस्थापक, सर्वव्यापक व सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान, ईश्वर जन–जन व प्राणिमात्र के कर्मों को देखता है व तदनुरूप उसे फल प्रदान करता है तो तथाकथित दुराचार स्वतः समाप्त हो जाएगा।

संसार के विभिन्न धर्मों में वर्णित ईश्वर के विभिन्न रूपों की मान्यताएं वेदसम्मत न होने से द्वन्द्व व भ्रम की स्थिति पैदा करती हैं जो कि आध्यात्मिकता के क्षेत्र में प्रवेश करने वाले किसी भी नव आगंतुक जिज्ञासु के लिए कठिनाई व असमंजस को उत्पन्न कर देती हैं। जहां तक ईश्वर के स्वरूप की बात है *यजुर्वेद* में ईश्वर को अकायम् (*यजु.* 40/8) अर्थात् शरीर–रहित घोषित किया है। महीधर ने अकायोऽशरीरः लिंग शरीर वर्जित इत्यर्थः कहकर ईश्वर के अशरीरी होने का बलपूर्वक प्रतिपादन किया है। अन्यत्र भी न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः (*यजु.* 22, 3) अर्थात् हे मनुष्यों! ईश्वर कभी शरीर धारण नहीं करता, उसकी मूर्ति या आकृति नहीं है, उसकी आज्ञा–पालन ही उसका स्मरण करना है तथा *कठोपनिषद्* (2.22) में अशरीरं शरीरेषु कहकर ईश्वर की आत्मा के रूप में लोगों के शरीरों में रहते हुए शरीर–रहित कहा है। अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्। (*श्वेताश्वतरोपनिषद्,* 3, 19) अर्थात् हे मनुष्यों! उस ईश्वर के हाथ नहीं हैं, परन्तु समस्त वस्तुओं की रचना करने वाला है और ग्रहण करने वाला है, उसके पैर नहीं है– परन्तु सबसे अधिक गतिमान है, आंख नहीं, परन्तु सबको देखता है, कान नहीं हैं परन्तु सबकी बात सुनता है। वह सब जगत् को जानने वाला है। उसको अवधि–सहित जानने वाला कोई नहीं है। उसी को महान्, सनातन, सर्वश्रेष्ठ सबमें

पूर्ण होने से पुरुष कहते हैं। इन कथनों के द्वारा भी उस ही निराकार ईश्वर की पुष्टि की गई है। इसी भाव को महाकवि तुलसीदास ने अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है– बिनु पग चले सुनै बिनु काना, कर बिनु कर्म करे विध नाना। आनन रहित सकल रस भोगी, बिन वाणी वक्ता बड़ योगी।। इस ही प्रकार तुम हो एक अगोचर सबके प्राणपति कहकर भी उस सर्वव्यापक, निराकार व अदृश्य ईश्वर की ओर ही संकेत किया गया है।

तर्क की दृष्टि से विचार किया जाये तो भी ईश्वर को साकार स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसे साकार मानने पर उसे किसी देश–विदेश का निवासी मानना पड़ेगा, फलस्वरूप वह सर्वव्यापक व सर्वज्ञ नहीं हो सकेगा, उसे मनुष्यों की भांति जन्म, मृत्यु, भूख–प्यास, रोग, शोकग्रसित होना पड़ेगा, फलतः वह अनन्त, अनादि, अजन्मा, अजर, अमर, नित्य व निर्विकार नहीं हो सकेगा। फलस्वरूप उस ईश्वर का ईश्वरत्व ही समाप्त हो जायेगा तथा सर्वशक्तिमान, सर्वेश्वर व सृष्टिकर्ता किस प्रकार स्वीकार किया जा सकेगा? अतः ईश्वर को निराकार स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है।

सृष्टि का कर्ता–भर्ता व संहर्ता ईश्वर सर्वशक्तिमान है, इस विशेषता के अभाव में वह अपने लक्ष्य में समर्थ नहीं हो सकता। कुछ अल्पज्ञ शक्ति सर्वशक्तिमान शब्द का यह अर्थ करते हैं कि ईश्वर जो चाहे कर सकता है, जो नितान्त असत्य व असम्भव है। ईश्वर कभी भूतकाल को नष्ट नहीं कर सकता, वह स्वयं को पापकर्म में प्रवृत्त नहीं कर सकता, वह स्वयं को मारकर दूसरा ईश्वर नहीं बन सकता, वह एक वेश्या को कुंआरी नहीं बना सकता। संक्षेप में, सर्वशक्तिमान होने का यह अर्थ नहीं कि वह जो चाहे करे, अपितु इसका अर्थ यह है कि वह सृष्टि की उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदि कार्य तथा जीवों के पाप–पुण्यादि कर्मों के फल को यथायोग्य व्यवस्था बिना किसी की सहायता के अपनी अनन्त सामर्थ्य से स्वयं कर सकता है। इसलिए ही उसे ऑल–माईटी गाड कहा गया है। यही भाव व्यक्त करते हुए सन्त कबीर ने ठीक ही कहा है–

साहिब मेरा बनिया सहज करे व्यापार।
ना तकड़ी ना बट्टा तोल देते संसार।।

कहने का तात्पर्य यह है कि उस सर्वशक्तिमान को अपने कार्य करने में किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है। इसलिए ईश्वर को सर्वशक्तिमान कहा है।

प्रायः जनसामान्य में यह भ्रम है कि दयालु व न्यायकारी दोनों विशेषताओं का एक साथ होना असम्भव है। उनके विचार से दया की स्थिति में न्याय व न्याय की स्थिति में दया कदापि सम्भव नहीं है। जबकि न्याय व दया में नाममात्र का भेद है तथा दोनों का एक ही प्रयोजन है। न्यायकारिता व दयालुता को एक ही सिक्के के दो पहलू कह दिया जाये तो अनुचित नहीं होगा। जब ईश्वर किसी जीव के

पुण्यादि कर्मों का फल प्रदान करता है तो उसके अन्तःकरण को निष्पाप (निष्कपट) बनाकर उसे मोक्ष की ओर अग्रसर भी करता है। इन दोनों क्रियाओं में से पहली ईश्वर की न्यायकारिता व दूसरी उसकी दयालुता को प्रकट करती है। ईश्वर में उक्त दोनों विशेषताओं के सहअस्तित्व के और भी प्रमाण हैं। ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह पापात्मा हो अथवा पुण्यात्मा, सभी को समान रूप से कर्म करने के लिए कर्मेन्द्रियां, ज्ञान प्राप्त करने के लिए ज्ञानेन्द्रियां, विचार करने के लिए मानव मस्तिष्क, चलने–बैठने के लिए पृथ्वी, प्रकाश के लिए सूर्य व चन्द्र, श्वास लेने के लिए वायु, आहार के लिए अन्न व शाक, निरन्तर उपलब्ध कराता है, यह उसकी दयालुता है और जब मनुष्य इनका दुरुपयोग करता है तो विभिन्न रोगों के रूप में दण्ड भी देता है, जो उसकी न्यायकारिता का प्रमाण है। यह एक ही व्यक्ति के प्रति ईश्वर की दयालुता व न्यायकारिता के प्रमाण हैं।

इस प्रकार यदि पात्र–भेद में विचार किया जाये तो ईश्वर की न्यायकारिता व दयालुता बिल्कुल स्पष्ट है। अपराधी को दण्ड–व्यवस्था के आधार पर अपराधी के प्रति जहां न्याय है वहीं जिनके प्रति अपराध किया गया है उनके प्रति दया भी है। दूसरे शब्दों में जिसने जैसा, जितना बुरा कर्म (अपराध) किया है उसे तदनुरूप दण्ड मिलना न्याय है तथा एक अपराधी के प्रति दण्ड–व्यवस्था न होने पर सहस्रों धर्मात्मा (आम जनता) को जो कष्ट हो तो वह दया किस प्रकार हो सकती है? दूसरे शब्दों में उस अपराधी को कारागार में बन्द कर दण्ड देना न्यायकारिता व आम जनता को उसके दिये जाने वाले कष्टों में मुक्त करना दयालुता है। इस प्रकार यह स्पष्ट किया है कि न्याय और दया ईश्वर की सहगामी विशेषता है। मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है किन्तु कर्मफल का उपयोग करने में परतन्त्र है। *गीता* में यही भाव कमण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन कहकर व्यक्त किया गया है।

प्रायः आज की युवा पीढ़ी प्रत्यक्षीकरण के अभाव में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करने में असमर्थता व्यक्त करती है। इस विषय में स्पष्टीकरण यह है कि– तर्कशास्त्र के अनुसार ज्ञान वह व्यवस्थित विचार है जो वस्तुस्थिति के अनुरूप हो तथा जो उस अनुरूपता में विश्वास दिलाता हो। किसी पदार्थ अथवा शक्ति–विशेष को सत् व असत् दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। जिसका अस्तित्व हो उसे सत् व जिसका अस्तित्व न हो उसे असत् कहते हैं। इस वर्ग–संधारण हेतु भारतीय पदार्थ–विज्ञान व जिन परीक्षाओं का उल्लेख किया गया है उन्हें प्रमाण–शास्त्र कहा जाता है। प्रत्यक्ष, अनुमान व आप्तोपदेश के रूप में ज्ञान के इन लक्षणों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है। इन विविध प्रमाणों का उल्लेख करते हुए आयुर्वेद के महर्षि चरक ने *संहिता विमानस्थल* के चौथे अध्याय में लिखा है कि –

द्विविधा खलु परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानांच।
इत्याप्तोपदेशेन सह प्रमाण त्रयमुच्यते।।

यहीं प्रसंगवश ज्ञान के इन साधनों के आधार पर संबंधित विषय पर विचार करना अनुचित नहीं होगा।

प्रत्यक्ष वह प्रक्रिया है जिसमें पंच ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से वस्तुस्थिति का ज्ञान होता है। प्रत्यक्षीकरण की इस प्रक्रिया में आत्मा, मन, इन्द्रिय व इन्द्रियार्थ (विषय) का संयोग होना आवश्यक है अथवा इस प्रकार कहा जा सकता है कि आत्मा, इन्द्रिय, मन व विषय के परस्पर संयोग होने पर जो ज्ञानोत्पत्ति होती है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। दूसरे शब्दों में मनः पुरस्कार इन्द्रियों द्वारा ग्रहीत भ्रम–रहित ज्ञान–प्रत्यक्ष कहलाता है। कहा भी है कि –

आत्मेन्द्रियं मनोर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धि प्रत्यक्षः सा निरूप्यते।।

जब कभी किसी प्रत्यक्षीकरण की अभिलाषा जागृत होती है तो शरीरस्थ आत्मा मन से, मन इन्द्रियों से तथा इन्द्रियां सम्बन्धित विषय में संशक्त होती हैं, प्रत्यक्षीकरण के इस क्रम का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि– आत्मा मनसा युज्यते मनः इन्द्रियेण, इन्द्रियं विषयेण ततः प्रत्यक्षम्।।

पंच–ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर पंचविध प्रत्यक्ष होता है। नेत्राधिष्ठान स्थित चक्षुरिन्द्रिय, कर्णाधिष्ठान स्थित कर्णेन्द्रिय द्वारा शब्द प्रत्यक्ष होता है, त्वचा स्थित त्वगेन्द्रिय द्वारा स्पर्श प्रत्यक्ष होता है। जिह्वा स्थित रसेन्द्रिय द्वारा रस का प्रत्यक्ष होता है तथा नासिका घ्राणेन्द्रिय द्वारा गन्ध का प्रत्यक्ष होता है। इस पंचविध प्रत्यक्ष को बाह्य (इन्द्रिय) प्रत्यक्ष कहा जाता है। आधुनिक अनीश्वरवादी केवल इन्द्रियजन्य इस पंचविध बाह्य प्रत्यक्ष को ही ज्ञान का स्रोत मानते हैं। उनका कथन है कि यदि ईश्वर है तो उसका प्रत्यक्ष होना चाहिए और प्रत्यक्ष न होने के कारण उनके मत से ईश्वर का अस्तित्व नहीं है।

यहां मेरा एक प्रश्न है कि जिन इन्द्रियों से प्रत्यक्षवादी प्रत्यक्ष चाहते हैं क्या कभी उन्होंने अपनी इन्द्रियों का प्रत्यक्ष किया है? यदि हां तो दर्पण (आइने) के माध्यम से उन्होंने इन्द्रिय नहीं, अपितु इन्द्रियाधिष्ठान का अवलोकन किया है। स्मरण रहे, इन्द्रियाधिष्ठानों व तद्–विषयक ज्ञान–शक्ति अलग–अलग है। कभी–कभी इन्द्रियाधिष्ठान सामान्य होते हुए भी उनमें विषय ज्ञानशक्ति का अभाव देखा जाता है। इन्द्रियाधिष्ठानों का तो बाह्य प्रत्यक्ष हो सकता है। किन्तु तद्विषयक ज्ञानशक्ति का बाह्य प्रत्यक्ष कदापि सम्भव नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है इन्द्रियाधिष्ठान मात्र का प्रत्यक्ष इन्द्रियों द्वारा सम्भव है। जब स्वयं की इन्द्रियों का प्रत्यक्ष भी सम्भव नहीं तो अनीश्वरवादियों द्वारा प्रभु–प्रत्यक्षीकरण का दुराग्रह अनुचित नहीं तो उचित भी नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष अल्प व अप्रत्यक्ष अधिक है, साथ ही साथ सभी इन्द्रियों द्वारा सम्भव नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में इन्द्रियां स्वयं से सम्बन्धित विषय का ज्ञान कराने में ही समर्थ हैं।

इस संसार में स्थूल के अतिरिक्त विभु (निराकार) रूप में भी अस्तित्व है। जिस प्रकार वायु, शब्द, रस, माधुर्य आदि का अस्तित्व होते हुए भी निराकार (विभु) है उसी प्रकार ईश्वर का अस्तित्व होते भी वह निराकार (विभु) है। उसका पंच–ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षीकरण असम्भव है।

मनुष्य के शरीर में पंच ज्ञानेन्द्रियों व पंच कर्मेन्द्रियों के अतिरिक्त मन ग्यारहवीं इन्द्रिय के रूप में विद्यमान है। आयुर्वेद के महर्षि सुश्रुत के उभयात्मकं मनः कहकर इसका निरूपण किया है अर्थात् मन, ज्ञान प्राप्ति का साधन होने के कारण ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियों का संचालक होने के कारण कर्मेन्द्रिय भी है। स्थूल वस्तुओं का ज्ञान पंच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य प्रत्यक्ष के रूप में सम्भव है। इसमें आत्मा, मन व इन्द्रियों का क्रियाशील होना आवश्यक है। किन्तु विभु (अभौतिक) का पंच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य प्रत्यक्ष सम्भव नहीं होता। उसका केवल अंतः (मानस) प्रत्यक्ष ही सम्भव है। इसमें केवल मन ही क्रियाशील होता है। ईश्वर विभु होने के कारण उसका केवल मानस–प्रत्यक्ष ही सम्भव है।

महाभारत में भी परमात्मा के विभु स्वरूप को स्वीकार करते हुए कहा गया है–

हिरण्यगर्भो द्युतिमानः यः एषच्छन्दसि स्मृतः।
योगैः सम्पूज्यते नित्यं स च लोके विभु स्मृतः।।

अर्थात् द्युतिमान हिरण्य गर्भ वही है जिसकी वेद में स्तुति की गई है, जिसकी योगीजन नित्य पूजा (उपासना) करते हैं और संसार में उसे विभु कहा जाता है।

आधुनिक भौतिकवादी उस अभौतिकवादी ईश्वर का भौतिक प्रत्यक्ष चाहते हैं जो दुराग्रहमात्र है, उसका तो अन्तः (मानस) प्रत्यक्ष ही सम्भव है। दूसरे शब्दों में उसका अनुभव किया जा सकता है। वह भी ध्यानगम्य है। यही बात– ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो तथा योगिभिर्ध्यान गम्यम् कहकर स्पष्ट की गई है।

उसे देखा नहीं जा सकता, किन्तु अनुभव किया जा सकता है। यही कारण कि जो कहते हैं कि ईश्वर है उन्होंने देखा नहीं और कहते हैं कि नहीं है तो तलाशा नहीं। प्रत्यक्ष के आधार पर परोक्ष का निर्णय, चिन्ह को देखकर चिन्ही का निर्णय तथा कार्य को देखकर कारण का निर्णय करना अनुमान कहा जाता है। दूसरे शब्दों में अनुमान प्रमाण ज्ञान का वह स्रोत है जिसमें प्राप्त के आधार पर अप्राप्त का निर्णय किया जाता है। यह अनुमान प्रमाण सामान्यतोदृष्ट (वर्तमान), शेषवत् (भूत) व अनागत (भविष्य) भेद से तीन प्रकार का होता है। प्रत्यक्ष धुएं को देखकर परोक्ष अग्नि का अनुमान सामान्यतोदृष्ट (वर्तमान काल) का उदाहरण है तो प्रत्यक्ष गर्भ को देखकर अप्रत्यक्ष मैथुन का अनुमान अनागत (भूतकाल) का उदाहरण है तथा प्रत्यक्ष बीजारोपण को देखकर परोक्ष फल–प्राप्ति का अनुमान आगत (भविष्य) का उदाहरण है। संक्षेप में, दृश्य को देखकर अदृश्य का विचार अनुमान कहलाता है। आज का तथाकथित बुद्धिजीवी वर्ग वैज्ञानिक उन्नति के फलस्वरूप प्राप्त वैज्ञानिक आविष्कारों पर गर्वित है। किन्तु उसने यह नहीं सोचा कि इन वैज्ञानिकों का निर्माता

(जन्मदाता व बुद्धिप्रदाता) महानतम वैज्ञानिक भी अवश्य होगा। वह कौन व कहां है, विचित्र सृष्टि देखकर उस विचित्र सृष्टिकर्ता के विषय में चिन्तन ज्ञान के साधन अनुमान प्रमाण के आधार पर सम्भव है। यही भाव व्यक्त करते हुए किसी उर्दू के शायर ने ठीक ही लिखा है कि –

होश उड़ा देता है इन खाक के पुतलों का कमाल।
वह खुद क्या होगा इन्हें होश में लाने वाला।।

किसी पदार्थ या ज्ञान के साक्षात् को आप्ति कहते हैं तथा उस आप्ति में जो प्रवृत्ति करता है उसे आप्त कहते हैं। इन आप्त पुरुषों के वाक्यों को आप्तोपदेश, आप्त–प्रमाण या शब्द–प्रमाण कहा गया है। दूसरे शब्दों में आप्तोपदेश ज्ञान का वह स्रोत है जिसे हम आप्त वचन के रूप में स्वीकार करते हैं। ऋषि–मुनियों के द्वारा रचित प्रभु–सत्ता को प्रतिपादित करने वाला आर्य साहित्य आप्तोपदेश का ही रूप है, साथ ही वेद स्वतः ईश्वरीय ज्ञान का भण्डार है इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

इस प्रकार के ज्ञान के तीनों स्रोत–प्रत्यक्ष, अनुमान व आप्तोपदेश के द्वारा ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित हो जाने के उपरान्त भी दुराग्रही नास्तिकों द्वारा यह कहा जाता है कि ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करने में क्या लाभ है तथा स्वीकार न करने पर समाज किन लाभों में वंचित रह जाता है।

आज यदि सामाजिक स्थिति का अध्ययन किया जाये तो ज्ञात होगा कि समाज में कहीं पशु–हिंसा हो रही है तो कहीं सामूहिक नरसंहार, कहीं चोरी है तो कहीं भय व आतंक, कहीं अनाचार है तो कहीं बलात्कार हो रहा है, कहीं क्रोध व नफरत है तो कहीं निरंकुशता व्याप्त है। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज अस्त–व्यस्त हो रहा है, सर्वत्र अशान्ति व्याप्त है, यहां तक मनुष्य स्वयं अपने आप में भी अशान्त है तथा निराशा व उद्वेग वश आत्महत्या हेतु भी तत्पर हो जाता है, जिसका दुष्परिणाम परिवार व समाज को भुगतना पड़ता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार न करने के कारण मनुष्य हिंसक, निरंकुश, अशान्त, अनुशासनहीन, क्रोधी, दुराचारी, अहंकार, अनैतिक, मनोरोगी व निराशावादी हो जाता है जबकि ईश्वरवादी अनुशासित, शान्त, दयालु, प्रसन्न, विनम्र, सदाचारी व आशावादी होता है जिससे उनके मनोबल में वृद्धि होती है। यही कारण है कि रावण के दरबार में रामदूत अंगद ने अपने इष्ट राम का स्मरण कर अपना पांव धरती पर जमाया था और रावण का कोई भी योद्धा उसे हिला नहीं सकता था। याद रहे, ईश्वर–भक्ति व प्रसन्नता मानसिक चिकित्सा का अभिन्न अंग भी है। अतः उपरोक्त दुर्गुणों से रहित व सद्गुणों से सम्पन्न सुव्यवस्थित समाज की स्थापना हेतु ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यकता है।

शोधछात्र, दर्शनविभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

दर्शनशास्त्र की प्रासंगिकता

मनोज कुमार

वर्तमान समय में दर्शनशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता बहुत अधिक हो गई है। दर्शनशास्त्र ही एक मात्र विषय है जो समाज तथा व्यक्ति के जीवन के सम्पूर्ण पहलुओं पर विचार–विमर्श करता है और एक आदर्श समाज तथा बेहतर जीवन व्यतीत करने का गुर सिखाता है। लेकिन आज के भौतिकवादी युग में कुछ लोग दर्शन पर आरोप लगाते हैं कि वर्तमान में दर्शन अप्रासंगिक हो गया है। आधुनिक समाज भौतिकता–प्रधान समाज है। पूंजीवाद का पूर्ण विकास हो चुका है। भौतिक सम्पन्नता पर ही सामाजिक आदर्श और प्रतिष्ठा का आकलन होता है। नैतिक मूल्यों और मानवीय गुणों का सबसे अधिक नुकसान हुआ है। हमारे मन, वचन और कर्म में अन्तर पाया जाता है; हम खंडित व्यक्तित्व के शिकार एवं भाव–वंचक हो गए हैं। अतः आज नैतिकता, कर्तव्य–भावना, मानवीय–मूल्य, मानवतावादी–धर्म, वैज्ञानिक–सोच आदि मूल्यों की पुनर्स्थापना कर एक बेहतर समाज और आदर्श–जीवन के विकास के लिए दर्शनशास्त्र का अध्ययन बहुत ही महत्वपूर्ण हो गया है।

आज का युग विज्ञान का युग है। इस वैज्ञानिक युग में मनुष्य मात्र एक मशीन या रोबोट बनकर रह गया है जिसमें मानवीय मूल्यों का कोई स्थान नहीं रह गया है। भारत सरकार का मानव संसाधन–विकास मंत्रालय धीरे–धीरे मशीन संसाधन–विकास मंत्रालय बनता जा रहा है। पश्चिमी संस्कृति और वैज्ञानिक उपलब्ध्यिों के प्रभाव में आकर आज का समाज अपनी प्राचीन संस्कृति को भूलता जा रहा है। हमारी शिक्षा–नीति ही कुछ इस प्रकार की है जिसमें हम अपने बच्चों को मानव के रूप में विकसित नहीं कर पा रहे हैं। उन्हें यह शिक्षा नहीं दी जाती है कि जिस परिवार में या समाज में वे जन्म लेते हैं और पलते हैं उसके अन्य सदस्यों के साथ उनका आचरण कैसा होना चाहिए। वैसे मैं विज्ञान का आलोचक नहीं हूँ लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि हम अपनी संस्कृति को भूल जाएं। आज हमें और आगे आने वाले पीढ़ी को विज्ञान के साथ–साथ प्राचीन भारतीय संस्कृति से भी परिचय कराना होगा ताकि सुव्यवस्थित और प्रगतिशील समाज का निर्माण

हो सके। इसके लिए हमे प्रयास करने की आवश्यकता है तथा शिक्षा–नीति निर्धारक को भी सुझाव देने की आवश्यकता है ताकि ऐसी शिक्षा–प्रणाली को विकसित करें जिसमें दर्शनशास्त्र के महत्व को रेखांकित किया जा सके। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी पर सरकारी तंत्र जितना बल दे रहा है उसी अनुपात में मानव संसाधन पर भी बल देना आवश्यक है। मानव–संसाधन के महत्व को रेखांकित दर्शनशास्त्र ही कर सकता है। दर्शनशास्त्र ही हमें मानवीय मूल्यों से परिचित करवाता है। मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। चिन्तनशीलता का सम्बन्ध तर्क से होता है। मनुष्य तर्क के बिना नहीं रह सकता। तर्क उसकी जन्मजात प्रवृत्ति है जो उसे इस विश्व में साधारण पशुओं से ऊपर रखती है। विज्ञान का आधार भी तर्क ही है। दर्शनशास्त्र ही वह विषय है जो हमें तर्क के सम्बन्ध में विस्तार से ज्ञान देता है। इस दृष्टिकोण से भी दर्षनशास्त्र को छोड़कर सिर्फ विज्ञान–विज्ञान की रट लगाना प्रलाप मात्र ही है। यह ठीक है कि विज्ञान ने हमें भौतिक सुख–सुविधाओं से लैस किया है और हम आर्थिक तथा सामाजिक स्तर पर विकसित हुए हैं। लेकिन मानवीय स्तर पर हम शून्य की स्थिति पर आ गए हैं। मानवीय मूल्यों के बिना वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी विकास निष्फल होता है और समाज विध्वंस के कगार पर पहुँच जाता है। इसी संदर्भ में एस. राधाकृष्णन् ने कहा है कि आज विज्ञान के बदौलत हम आकाश में पंछी की तरह उड़ना सीख लिए हैं, मछली की तरह पानी में रहना भी सीख लिये हैं लेकिन हम क्या हैं अपने–आप को नहीं जान पाए हैं। इसलिए दिशा–भटकने की नहीं, सही दिशा चुनने की आवश्यकता है जिसका ज्ञान हमें दर्शन देता है।[1]

यहाँ पर मैं एक बात की चर्चा और करना चाहूँगा जो आज के मानव के लिए आवश्यक है, जिसे व्यावहारिक जीवन में देखा जा सकता है। दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत इसकी तीन शाखाएँ– नीति–विज्ञान, धर्म–विज्ञान तथा तर्कविज्ञान की शिक्षा मिलती है जो व्यवस्थित जीवन के लिए आवश्यक है। नीति–विज्ञान का सम्बन्ध 'चाहिए' से है। मानव को कैसा आचरण करना चाहिए, कौन सा कर्म शुभ है या अशुभ है, अन्य के प्रति कैसा आचरण करना चाहिए आदि बातों की जानकारी हमें नीति–विज्ञान से मिलती है जो दर्शनशास्त्र का एक अंग है। आज मानव के नैतिक मूल्यों का पतन हो गया है। मानव भोगवादी संस्कृति को अपनाए जा रहे हैं तथा भौतिक सुख के लिए किसी भी स्तर तक गिर जाते हैं जिसके कारण भ्रष्टाचार की समस्या न सिर्फ देश के लिए बल्कि सम्पूर्ण विश्व के लिए एक महत्वपूर्ण समस्या हो गई है, जिसका निदान अति आवश्यक है। अभी हाल में चीन में भ्रष्टाचार के आरोप में एक सरकारी सेवक को बीच चौराहे पर फांसी दी गई ताकि लोगों को उससे कुछ सीख मिले। इससे आम–जन को शिक्षा लेनी चाहिए।

नीति–विज्ञान के साथ–साथ धर्म–दर्शन का ज्ञान भी दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत पाते हैं। विश्व में जितने भी धर्म हैं, चाहे वह हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म, सिख धर्म, बौद्ध धर्म या जैन धर्म हों, सभी धर्म के मूल मान्यताओं का ज्ञान हम दर्शन शास्त्र के अन्तर्गत पाते हैं। लेकिन उसका निष्पक्ष विश्लेषण हम नहीं कर पाते हैं जिसके कारण अनेक समस्याएँ व्यावहारिक जीवन में उत्पन्न होती हैं, जैसे– आतंकवाद की समस्या, धार्मिक असहिष्णुता, धर्म–परिवर्तन, धार्मिक कट्टरता आदि की समस्या। ये सारी बातें हमारी अज्ञानता के कारण उत्पन्न होती हैं। यदि इनका निष्पक्ष अवलोकन किया जाय, तर्क का सहारा लिया जाए तो शायद सारी समस्या का समाधान संभव है। तो यहाँ कमी दर्शनशास्त्र में नहीं बल्कि हम सबों में है। वैसे आधुनिक काल में समाज का विकास द्रुत गति से होने लगा है। फलस्वरूप उसी के अनुरूप दार्शनिक विचार और सोच भी विकसित हुए हैं। नैतिकता और धर्म में अन्तर समझा जाने लगा है। तर्क तथा वैज्ञानिक सोच का विकास हुआ है। प्राचीन दार्षनिक एवं धार्मिक मान्यताओं को आँख मूंदकर मानने के लिए लोग तैयार नहीं हैं। तर्क–आधारित मान्यताओं को प्रतिष्ठा मिली है। ईश्वर को स्रष्टा के रूप में नकारा जाने लगा। फलतः सृष्टिवाद की जगह विकासवाद को मान्यता मिली। सृष्टिवाद एवं विकासवाद का द्वन्द्व दार्शनिक सोच को प्रभावित किया। इससे दर्शनशास्त्र पर जो कुछ कट्टरपंथी का प्रभाव है उसे दूर करने का मौका अवश्य मिला है। लेकिन दर्शन की जो मूल भावना है, आध्यात्मिकता जिसका सार है, उससे भटकने की आवश्यकता नहीं है। दर्शन की मूल मान्यताओं को बनाये रखने की आवश्यकता है। यदि हम भारतीय संस्कृति को जीवित रखना चाहते हैं तो दर्शन की आवश्यकता निश्चित रूप से है। इसी में भारतवर्ष की आध्यात्मिक निधि सुरक्षित है। अनादि काल से ही भारतीय ऋषि–मुनियों ने इस निधि की खोज की है और समय–समय पर सुन्दर तथा बहुमूल्य रत्नों को इससे निकालकर भारतवर्ष का गौरव बढ़ाया है। आज भी विश्व में इसी बहुमूल्य विचारधारा के कारण हमारे देष का मस्तक ऊँचा है।

इतना ही नहीं, दर्शनशास्त्र मानव को व्यवस्थित ढंग से जीने की कला सिखाता है। हमारा जीवन कैसा होगा और उस तरह के जीवन से कहां तक हम विश्व–कल्याण में योगदान दे सकते हैं यह हमारे दार्शनिक विचारों पर बहुत कुछ निर्भर करता है। बिना किसी सैद्धान्तिक आधार के जीवन में विशृंखलता आ जाती है। आचरण में सामजस्य लाने के लिए विचारों में सामंजस्य लाना आवश्यक है और विचारों का सामंजस्य तभी सम्भव है जब उनकी आधारशिला के रूप में जीवन और जगत् के विषय में उचित और सुदृढ़ सिद्धान्त प्रस्तुत हों। ये सिद्धान्त जीवन के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण स्थिर करते हैं और उसके जीवन भर की क्रियाओं के बीच एक श्रृंखला स्थापित करते हैं। लेकिन इसके बावजूद भी कुछ आलोचक दर्शन

पर आरोप लगाते हैं कि दर्शन जीवन के लिए अनावश्यक है, क्योंकि जीविका चलाने में इससे कोई सहायता नहीं मिलती, बल्कि उलटे वह अव्यावहारिक बना देता है। वह रोटी का सवाल नहीं हल करता। लेकिन ये आरोप निराधार हैं। भले ही इससे जीविका न मिले किन्तु जीवन तो अवश्य मिलता है, वो आदर्श अवश्य मिलते हैं जिन्हें पाकर सदा मानव बने रहते हैं। वैसे कुछ लोग दर्शन को मानसिक कसरत भर मानते हैं और कहते हैं कि इससे जीवन में कोई लाभ नहीं होता। पहले तो यह कहना कि दर्शन मानसिक कसरत भर है गलत है। दूसरे, यदि यह मान भी लिया जाय तो यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि इससे जीवन में कोई लाभ नहीं होता। जैसा कि प्रो. जोड ने कहा है, यदि दर्शन केवल मानसिक कसरत भर है तो इससे यह फायदा है कि मन की कसरत हो जाती है जो मन के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है।[2]

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि 'वर्तमान संकट के दौर से गुजर रहा है'।[3] इस संकट की घड़ी में दार्शनिक ही संकट से उबार सकता है। इतिहास गवाह है कि जब भी मानव के सामने समस्याएँ आई हैं उनके समाधान में दार्शनिकों की अहम् भूमिका रही है– चाहे वह सामाजिक परिवर्तन को लेकर हो, आर्थिक परिवर्तन को लेकर हो या राजनीतिक परिवर्तन को लेकर। महात्मा बुद्ध, महावीर, महात्मा गाँधी, स्वामी विवेकानन्द, प्लेटो, रूसो, कार्ल मार्क्स इसका जीता–जागता उदाहरण हैं। अतः दर्शन की मानव–जीवन को गति एवं दिशा प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका रही है जिसे नकारा नहीं जा सकता है। वस्तुतः दर्शनशास्त्र का अर्थ ही है– जीवन–दर्शन। मानव–जीवन को उन्नत, सामाजिकता का ज्ञान, वसुधैव कुटुम्कम् की भावना प्रदान करना ही दर्शन का मुख्य उद्देश्य होता है। यह तभी संभव है जब दर्शन को जीवन में उतारा जाय, न कि जीवन से दूर रखा जाय।

दर्शनशास्त्र विभाग
पटना विश्वविद्यालय, पटना

संदर्भ

1. *आधुनिक युग में धर्म, एस. राधाकृष्णन् पृ.–35*
2. *Return to Philosophy - C.E.M. Joad P-141*
3. *वर्तमान संकट और दर्शन (निबन्ध)– राजेन्द्र प्रसाद*

हैनिमैन पर काण्ट का प्रभाव

डॉ. श्यामदेव कुमार सिन्हा

सेमुएल फ्रैड्रिक हैनिमैन (1755–1843) बुद्ध के सदृश एक संत–दार्शनिक थे। वस्तुतः होम्योपैथिक विज्ञान के जन्मदाता हैनिमैन एक वैज्ञानिक के साथ–साथ दार्शनिक भी थे। जर्मन सरकार ने आपके नाम और चित्र का सिक्का और डाक टिकट चलवाया। आप सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, बेकन, देकार्ट तथा काण्ट जैसे महान् दार्शनिकों से काफी प्रभावित थे।[1] उन्होंने कहा है कि – "काण्ट की कृति *'क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन'* के प्रेरणा से चिकित्सा–विज्ञान में सुधार लाना आसान हो गया।[2]

हैनिमैन अपने मित्र भोन–भिलर को काण्ट (1724–1804) के कृति *'क्रिटिक'* (जर्मन मूल से अंग्रेजी अनुवाद का शीर्षक) को स्पष्ट रूप से अनुवाद करने का अनुरोध किया था क्योंकि उनके अनुसार मानव–कल्याण हितार्थ काण्ट के इस कृति पर भाष्य का होना अनिवार्य था।[3]

हैनिमैन इस बात से काफी व्याकुल थे कि काण्ट के *'क्रिटिक'* पर किसी ने अच्छा भाष्य नहीं लिखा था। हैनिमैन महोदय का कहना है कि उस समय के वैज्ञानिक अथवा चिन्तक काण्ट के अनुभव–निरपेक्ष दर्शन को नहीं समझ सके थे। वैज्ञानिकों तथा चिन्तकों से उन्हें आशा थी कि उनके *'क्रिटिक'* पर कार्य करें। किन्तु कोई वैज्ञानिक या चिन्तक इसको साकार रूप नहीं दे पाया।[4]

हैनिमैन ने काण्ट के प्रागनुभव एवं अनुभवाश्रित सिद्धान्त को पूर्णतः स्वीकारात्मक रूप दिया तथा उसे वैज्ञानिक दर्शन के रूप में प्रतिपादित किया। आज पूरे विश्व में होम्योपैथिक विज्ञान जो आलोकित है, वह *'क्रिटिक'* से प्रेरित है। इससे प्रेरित होकर ही हैनिमैन ने एक नये चिकित्सा–दर्शन को प्रतिपादित किया। उसी चिकित्सा–दर्शन पर होम्योपैथिक विज्ञान का भवन खड़ा हो सका।[5] उन्होंने अरस्तू की तरह व्यक्ति के जीवन का अध्ययन उसके वातावरण की स्थिति के साथ किया है, चाहे उसकी सामाजिक परिस्थितियां हों, आर्थिक हों या मनोवैज्ञारिक परिस्थितियां, कुछ भी हों।

हैनिमैन का प्रादुर्भाव उस समय हुआ जब विभिन्न दार्शनिक तथा वैज्ञानिक विचारधाराओं के बीच आपदाएं खड़ी थीं। बुद्धिवाद और भौतिकवाद– ये दो विचारधाराएं मूल रूप से स्थापित थीं। इन दोनों विचारधाराओं के बीच द्वन्द्व था।

इन दोनों के विवादों को काण्ट महोदय ने समन्वयवादी सिद्धान्त स्थापित कर दूर किया और बुद्धिवाद तथा अनुभववाद दोनों के महत्व पर प्रकाश डाला। हैनिमैन के शब्दों से यह स्पष्ट होता है कि 1811 ई.[6] तक काण्ट का समीक्षावाद प्रकाश में नहीं आ पाया था। इतना ही नहीं, हैनिमैन के शब्द इस बात को भी प्रमाणित करते हैं कि उस समय के जो भी जन्मजात वैज्ञानिक (Born scientists) थे वे काण्ट के *'क्रिटिक'* को नहीं समझ पाये थे। आपके अनुसार काण्ट की अन्तरात्मा (Inner vision) में उनकी जो अवधारणा थी अपने आप में अव्यक्त रह गयी।[7] काण्ट के तथाकथित विद्वान् भी उनके दर्शन के भाष्य को अपने अनुभव का आधार नहीं दे पाये, जैसे कि उन्होंने (काण्ट) चाहा था, वरन् उसे और रहस्यमय बना दिया।[8]

हैनिमैन चाहते थे कि काण्ट का स्वीकारात्मक दर्शन (Accepted philosophy) को स्पष्ट और सुबोध होना चाहिए जिससे कोई भी शिक्षित व्यक्ति आसानी से समझ सके। प्लेटो के सुबोध और स्पष्ट विचार से हैनिमैन काफी प्रभावित थे। (काण्ट के कृति के अनुवाद के संदर्भ में पत्र लिखते हुए प्लेटो के बारे में भी उन्होंने अपना विचार प्रकट किया था।)[9]

हैनिमैन बाल्यावस्था से ही मेधावी थे। आपकी प्रतिभा से आपके शिक्षक अति प्रभावित हुए थे। प्रभावित होने वालों में हार्वर ग्रेथ पर्नर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बाल्यावस्था में ही हैनिमैन ने जो रोग का महाकाल जैसा मानवभक्षक रूप देखा, तो आपके हृदय का चिरसंचित सेवा–प्रेम उमड़ पड़ा। जर्मनी के चिकित्सक हार्वर ग्रेथ पर्नर ने लिपजिक नगर के विशिष्ट चिकित्सकों के नाम, बालक हैनिमैन की सिफारिश तथा कुशाग्रता का उल्लेख करते हुए पत्र लिखा।

लब्ध–प्रतिष्ठ व्यक्ति डॉ. हार्वर ग्रेथ पर्नर के सिफारिश–पत्र से हैनिमैन को बड़ी सहायता मिली। वहां पहुंचकर उन्होंने (हैनिमैन ने) जिन–जिन चिकित्सा–शास्त्र के दिग्गजों का नाम संग्रह किया क्रमशः सबके पास पहुंचकर पत्र को दिखाते और वे सब सज्जन उनका यथेष्ठ सम्मान करते थे। हैनिमैन की प्रतिभा से लिपजिक के विद्वान् चिकित्सक भी काफी प्रभावित हुए। वे चिकित्सक कृपालु होते और उन्मुक्त हृदय से चिकित्सा–पद्धति की शिक्षा देते थे। इस तरह एक विद्यार्थी के हैसियत से वे चिकित्सा–शिक्षा ग्रहण करते रहे। पिता द्वारा दिया गया 20 थेलर (40 रूपया) कब तक उनकी सहायता कर सकता था, कभी कुछ विद्यार्थियों को पढ़ाते और पुरस्कारस्वरूप अर्थोपार्जन करते थे। उन्होंने तब तक दो–तीन भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया था और अनुवाद–कार्य सम्पन्न करके अपनी जीविका चलाते थे। लिपजिक नगर में रहते हुए युवक हैनिमैन ने 34 चिकित्सा दिग्गजों की सहायता से प्रचलित पुरानी चिकित्सा–पद्धति (एलोपैथी) की शिक्षा प्रारंभ की। चिकित्सा–कला की शिक्षा प्राप्त कर हैनिमैन वियना गये और वहां नौ महीने तक रहकर विभिन्न हस्पतालों में प्रत्यक्ष चिकित्सा ग्रहण की। क्रमशः उनकी प्रतिभा का बाल–सूर्य–क्षितिज

पर चढ़ रहा था। उस समय लियोपोल्ड तटेड्ट नाम नगर में एक 'होस्पीटल ऑफ दी व्रोथेस ऑफ चैरेटी' नाम का विख्यात दातव्य अस्पताल था जिसमें गरीब जनता की सेवा हुआ करती थी। वहां से आपको बुलवाया गया और सेवा–कार्य के लिए आप वहां चले गये।

अस्पताल के प्रधान चिकित्सक वौन कोयरिन आपकी प्रतिभा से विशेष प्रसन्न हुए। कोयरिन ने आपसे अति प्रभावित होकर आपको चिकित्सक की उपाधि प्रदान की।

एक तरफ धीरे–धीरे आपका यश फैलने लगा और दूसरी ओर चिकित्सा संबंधी जिज्ञासाओं का कोई सत्य अनुसन्धान न लग सकने के कारण आप खिन्न भी रहने लगे। पुरानी पद्धति (एलोपैथिक) में असत्य और असम–विधान पद्धति को पाकर आप असंतुष्ट रहने लगे और पृथ्वी पर के सभी मानव–कल्याण के लिए चिन्तित रहने लगे।

आप 12 वर्ष की अवस्था में जर्मन भाषा के ज्ञाता हो चुके थे और अपने से छोटे और बड़े को भी जर्मन साहित्य का ज्ञान देते थे। इसी से आपकी जीविका भी चलती थी। अपने जीवनकाल में सदा सभी को अपनी विलक्षण प्रतिभा से प्रभावित करते रहे। आप अपने मित्रों के बीच विज्ञान, साहित्य तथा दर्शन पर लेक्चर दिया करते थे। आपके विवेक के आगे सभी को झुकना पड़ता था और उनके अनुयायी तथा मित्र अनेक हुए। वैसे कुछ ईर्ष्यालु चिकित्सक उन्हें तंग भी किये। मुकदमा भी चलाये परन्तु उनको विशेष हानि नहीं पहुंचा सके। पीड़ितों के कष्ट को उन्हें देखा नहीं जाता था और एलोपैथिक चिकित्सा, जिसकी उन्होंने डिग्री ले रखी थी, इस पद्धति में उनका दिल सदा दुखित रहता था। चूंकि यह पद्धति सदृश–विधान पर आधारित नहीं है; इसलिए वह किसी व्यक्ति के पूर्ण कष्ट का निवारण नहीं कर सकती अर्थात् रोग से समूल (पूर्ण) छुटकारा नहीं दिला सकती, उनके ह्रदय में हर समय ऐसी भावना कौंधते रहती थी और इसके लिए वे चिन्तित रहते थे।

डॉ. हैनिमैन बुद्ध के समान विशाल करुणानिधि पुरुष थे तथा कम आयु में कई भाषाओं के विद्वान् हो गये, (टेनसिलवेनिया के पुस्तकालय में ग्रीक, लेटिन, फ्रेंच, अंग्रेजी, इटालियन, जर्मन, हिदी, अरबी, फारसी, स्पेनिस, सीरियन भाषाओं की पुस्तकों का अध्ययन किया)। लोग उनकी विद्वत्ता का सिक्का मानने लगे थे। उनकी प्रतिभा की शंकराचार्य से तुलना की जा सकती है।[10] इसलिए वे ह्रदय से बुद्ध और ज्ञान से शंकर के स्वरूप थे। आप एम.डी. की उपाधि प्राप्त करने के बाद भी असम–विधान के चिकित्सा–पद्धति से संतुष्ट नहीं थे। आप इस बात को समझ चुके थे कि एलोपैथिक चिकित्सा–पद्धति एक क्रूर पद्धति है। सन् 1790 ई. में आप चुलेन[11] की *मेटैरिया मेडिका*, जो ग्रीक भाषा में थी, उसे जर्मन भाषा में अनुवाद कार्य कर रहे थे। इसी क्रम में लेखक (चुलेन) के क्विनाईन औषध संबंधी अनुभवों को मानव–विशेष पर प्रयोग द्वारा इसके तात्विक गुणों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा आपको हुई।

रोगियों पर उसका जो प्रभाव होता था वह तो अंकित था किन्तु आपको यह पूर्णतया विश्वसनीय नहीं लगा। एलोपैथिक चिकित्सा–पद्धति किसी व्यक्ति पर औषधि–परीक्षा न करके चूहे, बिल्ली, कुत्ते आदि जीवों पर किया करते थे। भला वे अबोध जीव किसी औषधि के आंतरिक तथा मानसिक लक्षणों को पूर्णतया कैसे व्यक्त कर सकते? ज्वर–विशेष की अवस्था में क्विनाईन देने से आरोग्य होता है, यह देखा गया था, किन्तु स्वस्थ व्यक्ति पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है यह एक जिज्ञासा का विषय था। इस परीक्षा के लिए आपने स्वयं एक दिन चार ड्राम क्विनाईन का सेवन किया। सेवन के बाद आप उसकी क्रियाओं का एकाग्रचित्त से अनुभव करने लगे। आपको भयानक रूप से शीत–ज्वर हो गया। जड़ैया बुखार के जितने लक्षण एक रोगी को भोगने पड़ते हैं, उतने लक्षण आपको अनुभव होने लगा। आपके मित्र भी एलोपैथिक चिकित्सक थे। इसकी पूर्ण परीक्षा के लिए आप बेचैन हो उठे। अपने मित्रों का इसकी परीक्षा के लिए आपने आह्वान किया। क्रमशः एक–एक औषधियों का प्रयोग कर सावधानी पूर्वक आप उनकी क्रियाओं को देखने लगे और उन्हें लिपिबद्ध किया। कुछ मित्रों ने आपके इस कार्य में काफी मदद की और वे अपने स्वस्थ्य शरीर पर इसकी परीक्षा किये। इस परीक्षा से आप इस परम सत्य पर पहुंचे कि ''जिस औषधि की अधिक मात्रा स्वस्थ मानव शरीर पर जो–जो विकार पैदा करती है, उसी औषधि की लघु मात्रा वैसे ही समलक्षण प्राकृतिक रोग को आरोग्य भी करती है।'' यही तो है 'समः समे शमयति' जिसे आपने ''सिमिलिया सिमिलिवस क्यूरेण्टर'' अपने मूल–सूत्र में प्रतिपादित किया और उसका नाम रक्खा होम्योपैथिक।

हैनिमैन के हमेशा एकांगी सिद्धांतों और अस्पष्ट अवधारणाओं से अपने को अलग रक्खा। उन्होंने जिस किसी विशिष्ट दार्शनिक–पद्धति को माना, उसे अपनी लेखनी से लिपिबद्ध कर निश्चित किया। आपके लेखों से स्पष्ट होता है कि आप किसी भी पद्धति से आंख मूंदकर पूर्णरूपेण सहमत नहीं हुए। आपने मन, जीवन और भौतिक पदार्थ (Mind, Life and Matter) की वास्तविकता को स्वीकारा, जिससे आपने आदर्श भौतिक तथा आत्मिक सम्प्रदाय, जो एक दूसरे के विरोधी हैं, को सराहा। चेतन अनुभव के अंतर्गत जो उचित नहीं था, आप उसका कुछ भी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। पदार्थ को आप अस्वीकार नहीं कर सकते थे चूंकि वह आपको अनुभूतिजन्य (perceptible) थी। यह सत्य है कि मनुष्य का शरीर पंच–तत्व से निर्मित है जो कभी भी स्वतः चेतन–जीव (Living conscious being) नहीं हो सकता। मन, शरीर और आत्मा किस प्रकार स्थापित है इसकी व्याख्या की है। इसकी उत्पत्ति कैसे हुई और मरणोपरान्त यह कहां जाता है? – इस संदर्भ में आपने कुछ भी नहीं कहा है। लेकिन अनुभव के अंतर्गत इसके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। मात्र आप इस बात से संतुष्ट थे कि ब्रह्म अथवा ईश्वर

के द्वारा प्रदत्त पंचतत्व से निर्मित शरीर आत्मा (Vital Force) के बिना न अनुभूति, न इन्द्रियजनित ज्ञान, न कार्य–समापन और न स्व–रक्षा ही कर सकता है। आपके अनुसार आत्मा अथवा जीवनी–शक्ति दिखाई नहीं पड़ती। अपने प्रभाव तथा क्रियाओं को भौतिक पदार्थ के ऊपर होने वाली क्रियाओं से आत्मा का अस्तित्व परिलक्षित होता है। इस दृष्टिकोण से आपको अनुभववादी भी कह सकते हैं, चूंकि अनुभव के अंतर्गत आने वाले ज्ञान के हिमायती थे और इसको जरा भी नजर अंदाज करना अनुचित समझते थे। आप भाइटिलिस्ट या अध्यात्मवादी भी कम नहीं हैं। चैतन्यस्वरूप आत्मा को आपने स्वीकारा है। आपके अनुसार आत्मा अथवा जीवनी–शक्ति अभौतिक है, इसका ज्ञान हमें भौतिक पदार्थ के माध्यम से संभव है। हम लोग जीवनी–शक्ति या आत्मा को नहीं देख सकते, सिर्फ जीवित प्राणी को ही देख सकते हैं। सजीव के अंगों के गुणों का हम अध्ययन कर सकते हैं तथा निर्जीव की सत्ता की साथ उनका अंतर भी अच्छी तरह बता सकते हैं। आपने तर्क प्रस्तुत किया है कि जीवन का अध्ययन प्राकृतिक दर्शन के रूप में होता रहा है अर्थात् प्रकृति–दर्शन के अन्तर्गत जिस प्रकार रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र, भूगर्भ शास्त्र, नक्षत्र विज्ञान, शरीर–विज्ञान (एनाटोमी तथा फीजोलॉजी) का वैज्ञानिक अध्ययन होता रहा है उसी रूप मे चेतन स्वरूप आत्मा का भी अध्ययन किया जाता रहा है। रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र तथा शरीर शास्त्र का अध्ययन मात्र भौतिक तत्व के रूप में प्रागनुभविक (*apriori*) पद्धति से संभव है। किन्तु उस रूप में हमारी चेतन आत्मा का अध्ययन संभव नहीं है। आपके (हैनिमैन के) अनुसार इसी धारणा के कारण हम व्यक्ति का इलाज करने में असफल रहे हैं। जीवन–क्रिया (Life Phenomena) को हम जीवनी–शक्ति के रूप में नहीं देख सकते चूंकि वह अदृश्य और हमारे ज्ञानेन्द्रियों के अनुभूति से दूर है (Imperceptible to our senses)। इसे स्वतंत्र जीवनी–शक्ति के रूप में नहीं जाना जा सकता। इसे हमेशा भौतिक पदार्थों के माध्यम से जाना जा सकता है। इसका स्वरूप भौतिक पदार्थों के रहने से परिलक्षित होता है। इस संदर्भ में हैनिमैन कहते हैं:– "मनुष्य स्वस्थावस्था में, स्वतंत्र आध्यात्मिक शक्ति (आत्मा अथवा चेतना) जो (स्वेच्छाचारी एकतंत्र रूप से है) मानव के इस भौतिक शरीर का परिपोषण करती है अर्थात् भौतिक शरीर को सजीव बनाये रखती है, असीमरूप से उस पर शासन करती है और उस मानव–शरीर के सभी अंगों को अधिकार में रखती है। जहां तक अनुभूति और शारीरिक का संबंध है– प्रशंसनीय तारतम्य (admirable harmonious) तथा आत्मा संबंधी क्रियाओं (Vital operation) में आत्मा सक्रिय रूप से कार्य करती है जिससे उस शरीर के अंदर सर्वदा उपस्थित रहने वाला शुद्ध–बुद्धि–प्राप्त विवेकपूर्ण मस्तिष्क (Reason-gifted mind), इस जीवन–सम्पन्न, स्वस्थ एवं निरोग शरीर–यंत्र को जीवन के अधिक ऊँचे उद्देश्यों के लिए स्वतंत्र रूप से उपयोग में ला सके।"[12]

"भौतिक शरीर–यंत्र, जीवनी–शक्ति (प्राणशक्ति) के बिना कोई बल, अनुभव, कोई क्रिया और आत्मरक्षण शक्ति के योग्य नहीं रहता है। आत्मा या अभौतिक सूक्ष्म तत्व जीवन की सभी प्रकार की अनुभूति प्राप्त करती है तथा सभी शारीरिक क्रियाओं को अकेले सम्पन्न करती है तथा स्वस्थ और अस्वस्थ अवस्था में शरीर को जीवंत बनाये रखती है।"[13]

हैनिमैन सजीव और निर्जीव के बीच मौलिक अन्तर का निरीक्षण करते हैं। सजीव प्राणी को अनुभव, शारीरिक क्रिया, स्व–सुरक्षा एवं सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति प्रदत्त है जो भौतिक पदार्थ में नहीं होती है।

विज्ञान का भौतिकवाद से गहरा संबंध रहा है तथा यह भौतिक जगत् के क्रिया–प्रतिक्रिया, कार्य और कारण तथा उसका वातावरण पर प्रभाव– इन सबों से संबंध रखता है, किन्तु यदि पर्याप्त तीक्ष्ण बुद्धि से तथा गहराई से विचार करें तो पदार्थ का अस्तित्व कुछ नहीं दिखता बल्कि वह स्वयं शक्ति का प्रदर्शन है। साधारणतः जिस पदार्थ को हम देखते हैं वह शाश्वत नहीं है। वस्तुतः पदार्थ, आत्मा और मन– ये मूल रूप से सच्चिदानन्द स्वरूप हैं अथवा सत् की ही विभिन्न रचना हैं। इस दृष्टिकोण से सत् ही आनन्दस्वरूप है। जगत् एक साधारण सृष्टि नहीं है बल्कि ईश्वर के द्वारा निर्मित तीन स्तर– पदार्थ, जीव और मन (असत् सत् और मन)– प्रत्येक एक दूसरे जैसा वास्तविक है। प्रकृति के नियम और प्रतिभास (phenomenon) की प्रत्येक श्रेणी सापेक्ष रूप से उतना ही सत्य है जितना कि दूसरा।

यहां हमें आपकी अवधारणा वेदान्तिक अवधारणा के समीचीन दिखती है। जीवात्मा ब्रह्म का अंग है। ब्रह्म में निहित चित् ही जीवात्मा (Vital Force) है। जीवात्मा शरीर, 'मन', इन्द्रियों से भिन्न है। जीवात्मा संसार के भिन्न–भिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है। इसलिए वह ज्ञाता है। जीव अपने कर्मों का फल भोगता है। वह अपने शुभ–अशुभ कर्मों के अनुसार सुख–दुःख को प्राप्त करता है। इस प्रकार आपका दर्शन वेदान्त के सदृश है।

यद्यपि हैनिमैन एक चिकित्सक थे, फिर भी आपका विशुद्ध चेतन–मन वैज्ञानिक, परातात्विक तथा दार्शनिक चिन्तन करता रहता था। आपने आत्मा को व्हाइटल–फोर्स कहा है। आपने चेतन (consciousness) और चेतन–शक्ति (Intellect energy) का प्रयोग आत्मा के लिए किया है। इस प्रकार आपके दर्शन में वेदान्तिक अवधारणा का पुट मिलता है।

आपने कहा है कि चैतन्य स्वरूप आत्मा, जो इस पूर्ण शरीर–मण्डल को अपनी स्वेच्छा से संचालित करता है तथा इसके द्वारा चलाये जाने वाले जीवनी शक्ति के नियम (Vital-principle) की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। पुरानी चिकित्सा पद्धति द्वारा आत्मा के नियमन (principle) को नजरअंदाज किया जाता रहा है।

उसकी व्यवस्था का विचार किये बिना चिकित्सा की जाती रही है जिससे आत्मिक नियमन (Vital principle) में बाधा पहुंचने से व्यक्ति स्वस्थ होने के बदले घातक अन्य व्याधियों का शिकार हो जाता है। अनुभवाश्रित (*aposteriori*) विवेक, जिसे चेतनस्वरूप जीव अनुभव करता है उसको चिकित्सा–विज्ञान में अनिवार्यतः स्थान देना आपने आवश्यक बताया है। तभी व्यक्ति रोग–मुक्त होकर पूर्णता (Perfection) को प्राप्त कर सकता है।

पुरानी चिकित्सा पद्धति (एलोपैथी) में जीव के अनुभूति (experience) को कोई विशेष स्थान नहीं दिया गया है। वह यह मानता है कि नश्वर शरीर के अंग दुःख भोगता है इसलिए वह व्यक्ति के रोगों का अध्ययन और इलाज विभिन्न अंशों में करता है। आप इस चिकित्सा–पद्धति से असहमत हैं और कहते हैं :–

"मानव–जीवन किसी भी परिस्थिति में पूर्णरूप से भौतिक नियमों से संचालित नहीं होता है, जो केवल निर्जीव या भौतिक तत्वों के योग से प्राप्त करता है। जीव–संयोग में (सत् और असत् का संयोजन, जिससे शरीर–विधान का निर्माण होता है) भौतिक तत्व (असत्) का, जिससे मनुष्य के अंग बने हैं, चिरकाल तक बने नहीं रहते, भौतिक तत्व–विधान जो प्राणहीन अवस्था (Inanimated condition) में रहने वाला है, वे चेतन आत्मा के विशिष्ट (असाधारण) विधाान से संचालित होते हैं (They are regulated by the laws peculiar to vitality alone)।"[14] वेदान्तिक दर्शन के समान आप मानते हैं कि जीवात्मा (चित्) संसार के भिन्न–भिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है, इसलिए वह ज्ञाता है। वह संसार के विभिन्न कर्मों में भाग लेता है; इसलिए वह कर्त्ता है। जीव अपने कर्म का फल भोगता है। वह अपने शुभ–अशुभ कर्मों के अनुसार सुख और दुःख को प्राप्त करता है। जीव को इस सांसारिक जगत् में रहकर अनेक सीमाओं से गुजरना पड़ता है। उसके शरीर और मन पर उसके रहन–सहन, सोच, पारिवारिक स्थिति, आर्थिक स्थिति, सामाजिक स्थिति, आवास–प्रवास, गृहस्थ जीवन, लैंगिक संबंध, पेशा, उम्रादि का प्रभाव संस्कार के निर्माण में भागी होता है। व्यक्ति को (चिकित्सक को) रोग–उन्मूलन के लिए व्यक्ति का अध्ययन पूर्णता में करना आपने अनिवार्य बतलाया है। शरीर का कोई अंग आक्रान्त होता है तो उसका प्रभाव मन अथवा चित्त (consciousness) पर होता है इसलिए किसी भी व्याधि के लिए मानसिक लक्षण का अध्ययन अनिवार्य है, न कि विशेष अंग की स्थिति पर। कोई भी अंग आक्रांत होता है तब अनुभव अंग नहीं करता है। कष्ट की अनुभूति उसकी (जीवात्मा अथवा चेतना) चेतन मन करती है इसलिए अनुभूति को कभी नजर–अंदाज आपने नहीं किया। पुरानी चिकित्सा पद्धति सिद्धांत आज तक नजर अंदाज (ignore) किए हुए है और व्यक्ति का इलाज नहीं बल्कि उसके अंग का इलाज करता है।

हैनिमैन कहते हैं कि जो भौतिक तत्व औषधिक के रूप में प्रयुक्त होता है, वह निर्जीव तथा शक्तिहीन दिखता है, परन्तु इसमें डायनेमिक स्प्रीट (शक्तिशाली आत्मा) जो है जीव में स्थित डायनेमिक स्प्रीट से सदृश है। इस धारणा का उदय तब हुआ जब उन्होंने क्वीनाईन का मूल अर्क (essence of peruvian bark) चार ड्राम पी लिया। उनमें मलेरिया ज्वर के सारे लक्षण उत्पन्न हो गये। इस प्रयोग को बार–बार उन्होंने स्वस्थ शरीर पर किया और पाया कि एक तरह की अभिव्यक्ति (some manifestation) अस्वाभाविक व्याधि (रोग) उत्पन्न करता है। हैनिमैन इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उस वृक्ष के छाल से उस रोग अथवा व्याधि को जड़ से दूर कर देगा जिस लक्षण–समूह (totality of symptoms) को अभिव्यक्ति कर रहा है, वह उसके सदृश्य हो। भौतिक पदार्थ सृष्टि का निम्नतम या अंतिम स्तर है (lowest order of the existance) जिसमें डायनेमिक स्प्रीट (शक्तिशाली आत्मा) है जो व्याधि का निदान आत्मिक और सत्य रूप से करता है। इस आधार पर उन्होंने– 'सीमिलिया सिमिलिबस क्यूरेण्टर' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है अर्थात् समान चरित्र का औषध समान चरित्र के रोग को दूर करता है।

भौतिक तत्व जो औषध तत्व के रूप में उपयोग होते हैं, उस संबंध में हैनिमैन ने *ऑरगेनन* के सूत्र 19 और 20 में कहा है कि–

सूत्र 19–"औषध कभी रोग–निवारण नहीं कर सकता यदि उसमें मानव–शरीर, जो अनुभूति तथा क्रियाओं पर निर्भर करती है, के स्वास्थ्य में परिवर्तन लाने की क्षमता नहीं रखती हो। वस्तुतः इनकी (औषधियों की) आरोग्य शक्ति (their curative-power) का एकमात्र यही प्रमाण है कि उनमें मानव–स्वास्थ्य में परिवर्तन लाने की क्षमता है।[15]

सूत्र 20– औषधों में मानव–स्वास्थ्य के परिवर्तन करने की जो शक्ति छिपी रहती है वह केवल तर्क या युक्तियों से जानी नहीं जा सकती है। वह जानी जाती है मानव–स्वास्थ्य पर अपना प्रभाव दिखाने के समय जो परिवर्तन प्रकट करती है, उससे। उन्हीं परिवर्तनों से हम उसकी शक्ति को जान पाते हैं।[16]

इस प्रकार हैनिमैन इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि दुःख का जड़ से निवारण डाइनेमिकली तथा स्प्रिचुअली हो सकता है यदि रोगग्रस्त व्यक्ति का अध्ययन पूर्णता में करके किया जाय।

आप आगे कहते हैं :– "हम पाते हैं कि ये जो डाईनेमिक डिरेन्जमेन्ट, हमारे शरीर के जीवनी–शक्ति के विधान (Vital Principle), जिसे हम रोग के पद से आरोपित करते हैं, वे शरीर के अनुभूतियों तथा क्रियाओं का परिवर्तित रूप के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, जो सिर्फ लक्षण–समूह (totality of symptoms) के रूप में प्रदर्शित करता है, और वह हमारे अवलोकन शक्ति के द्वारा जाना जाता है।"[17]

यहां हैनिमैन के अनुसार वस्तु के परम–पदार्थ, जिसे काण्ट ने नोमेना (*Noumenon*) या *thing-in-itself* कहा है, उसे ज्ञेय बताया है। उसे भौतिक आंखों से नहीं देखा जा सकता है लेकिन वह जाना व समझा जा सकता है। इसके लिए आपने काग्नीजेबुल शब्द (cognizable) का व्यवहार किया है।

व्यक्ति की स्वस्थावस्था में उसका मन जब अच्छा महसूस करता है और शरीर भी अच्छा कार्य करता है वह आनन्द और आराम की स्थिति में रहता है। व्यक्ति मन की संवेदनाओं से और शरीर के क्रियाओं से आनन्द और आराम अनुभव करता है, तब व्यक्ति की वह अवस्था आनन्द की अवस्था कहलाती है। उसका हृदय धड़कता है, फेफड़े में फैलाव और संकुचन होता है, परन्तु स्वस्थ व्यक्ति कभी भी इन अंगों के अस्तित्व का अनुभव नहीं करते हैं और उनके द्वारा किये गये क्रियाओं का अनुभव करते हैं। सभी विभिन्न अंग, मांस–पेशियां तथा शरीर के अंग इस प्रकार कार्य करते हैं जैसे वे अपने शरीर से अचेत (uncouscious of his body) हैं और मन से वह चेतन रूप से कार्यरत हैं। ज्योंही व्यक्ति के शरीर के अंदर अंगों या अंग की अनुभूति होने लग जाती है या उसके (उस अंग के) क्रियाओं का अनुभव होने लग जाता है, इसका अर्थ है कि किसी–न–किसी रूप में उसकी शारीरिक व्यवस्था में हलचल मच गयी है। शारीरिक शान्ति समाप्त हो जाती है जो शारीरिक अनुभूति और क्रियाओं में परिवर्तन होने से उत्पन्न होता है। अतः रोग नाम की कोई चीज नहीं बल्कि सिर्फ व्यक्ति रोगी होता है।

आपके अनुसार–

"................. वस्तुतः शरीर जीवन का भौतिक यंत्र है परन्तु अन्तः प्रवृत्ति के अनुभूति से तथा संचालित आत्मिक शक्ति के द्वारा इसमें (भौतिक शरीर में) जीवन प्रदान किये बिना यह (शरीर के अंग) विचारणीय नहीं है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार आत्मा (Vital Force) भी शरीर के बिना जाना या समझा जाने योग्य नहीं है। फलस्वरूप (तदनुरूप) वे दोनों मिलकर एकात्मकता (unity) का निर्माण करते हैं, यद्यपि हमारा (हमलोगों का) मन सुबोध ज्ञान (easy comprehensive) के लिए स्पष्ट विचारों के अन्तर्गत इस ईकाई को विभाजित करता है।"[18]

आपके अनुसार जीवन का स्रोत और शक्ति का आधार भौतिक पदार्थ नहीं बल्कि चेतन स्वरूप आत्मा है।

आपके समय तक के दार्शनिक तथा चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में जो भी प्रयास या उपलब्धि, चिकित्सा–दार्शनिकों या वैज्ञानिकों ने की तथा जिनसे वे अपने को अभिमानित होते थे, वे चेतन शक्ति आत्मा, जो शरीर को संचालित करता है, इस ओर प्रागनुभविक ज्ञान के दिशा में एक कदम भी आगे नहीं बढ़े। इस संदर्भ में हैनिमैन प्रबुद्ध शि.क्षकों (चिन्तक अथवा दार्शनिक) को काल्पनिक विचार

(speculative idea) अथवा विचार के आधार पर प्राप्त ज्ञान (conclusion drawn upon understanding) के प्रति आगाह किया है, सावधान किया है। बहुत से चिकित्सक–चिन्तक (medical thinkers) हैं जो प्रागनुभविक ज्ञान के आधार पर प्राप्त निष्कर्ष को ही महत्त्व (value) देते हैं।

अतिसंवेद्य या इन्द्रियातीत[19] (supersensual realm) के अस्तित्व को कोई भी समझ सकता है, परन्तु भौतिक पदार्थ (Matter) के जैसा अनुभव नहीं कर सकता। रोग–शक्ति (सिर्फ यांत्रिक दुर्घटना को छोड़कर) उतनी ही सूक्ष्म और शक्तिशाली (spiritual) है जितना कि जीवनी–शक्ति (Vital Force), अतः इसे (रोग को) जड़ से दूर नहीं हटाया जा सकता जैसे कि भौतिक वस्तु को। कांटा चुभने पर निकाल कर फेंका जा सकता है चूंकि वह (mechanical injury) यांत्रिक उत्पीड़न है। रोग का उन्मूलन, जो जीवनी–शक्ति के सदृश शक्तिशाली है उसे सूक्ष्म शक्ति द्वारा परम पदार्थ की सत्ता से उत्पन्न प्रतिभासित क्रियाओं के अध्ययन से (मानसिक और शारीरिक लक्षण के अध्ययन से) 'समः समे शमयति' के सिद्धान्त पर किया जा सकता है। समः समे शमयति (*similia similibus cruentor*)[20] के सिद्धांत पर औषध–तत्व, जो स्वस्थ शरीर पर परीक्षित या सेन्टीस्मल पद्धति से शक्तिकृत की गयी है, उसे रोग–लक्षण के सदृशता के आधार पर दी जाने से रोग का समूल नाश सम्भव है। रोग–शक्ति भी परम–पदार्थ (*noumena*) है। भौतिक, रसायन शास्त्र और गणित के सदृश इसका अध्ययन नहीं किया जा सकता। प्रागनुभिक (*a-priori*) पद्धति शरीर–मन का सम्बन्ध (psycho-physical) से नहीं है बल्कि पूर्ण रूप से भौतिक है। इसलिए शरीर–मन सम्बन्धी अध्ययन (psycho-physical study) के लिए अनुभवाश्रित पद्धति (*aposteriori* knowledge) का आश्रय अनिवार्य है।

आप एक लब्ध–प्रतिष्ठ, आध्यात्मिक, दार्शनिक, ईश्वर–भक्त एवं वैज्ञानिक थे। योगदर्शन और नैतिक–दर्शन के सदृश आपका होम्योपैथिक–दर्शन एक व्यावहारिक चिकित्सा दर्शन (applied medical philosophy) है। यह दर्शन मात्र चिकित्सक के लिए ही नहीं अपितु संसार के सभी मानव–समुदाय के हितार्थ है। प्रायः हर व्यक्ति किसी–न–किसी रूप में भौतिक जगत् में रहकर दुःख को भोगता है। मानव–कल्याण के लिए आपका दर्शन अत्याधुनिक है।

हैनिमैन का होम्योपैथिक चिकित्सा–दर्शन इमेनुअल काण्ट के कृति "*क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन*' की देन है।

अध्यक्ष, दर्षनषास्त्र विभाग,
जमालपुर कॉलेज, जमालपुर, मुंगेर (बिहार)

संदर्भ

1. लाईफ एण्ड वर्क ऑफ हैनिमैन : डॉ. रिचार्ड हेडल (Dr. Richard Haehl) पेज नं. 367, लेसर राईटिंग्स (Observations on the three current methods of treatment) Descrates-page 546 Socrates (Dialogue between Socrates and Phaidon (Physon) a resident of Elis and a guest; cf. Phaedo) - page 200 & on page- 496 Plato & I. Kant-(Life and work of Hahnemann) page 387, Aristotle - (Lesser writings) page 575, तथा पी–एच.डी. शोध से संकलितः– डॉ. एस.डी.के. सिन्हा, पेज 8.

2. I had known for some time that you had our Kant available in France, but had not considered an enormous effort it must have cost even to understand his Critique if Pure Reason as so many German-born scientists cannot fathom or understand Kant, let alone translate him into a language which is hardly capable for resproducing his mode of expression. This has been done for the good of mankind. Your health, however, he suffered through this and other similar works, and you must now try to regain it completely. This the world asks of you through me.
Life & Work of Hahnemann (Dr. Richard Haehl) : Hahnemann's letter to his friend, Vonviller, page 387.

3. (हैनिमैन अपने मित्र भोन–भिलर के पत्र मे) "I admire Kant very much particularly because he draws the line of philosophy and of all human knowledge, where experience ends." वही, पेज नं. 387.

4. No scientist or thinker had understood as Kant wanted them to do within the boundries of experience. वही, पेज नं. 387–388.

5. "........My fight to-day with the reform in medical science would have been easier one." from the inspiration he got from Kan'ts Critique of Pure Reason. वही, पेज नं. 387–388.

6. अपने मित्र भोन–भिलन को जो काण्ट के संबंध में पत्र लिखा था वह 30 जनवरी 1811 था। वही, पेज नं. 387.

7. 'If the remaining part of what he has thought and written had only unfolded itself a little more clearly before his inner vision, I think he would not have enveloped himself in a cloud of such obscure sentences. वही, पेज नं. 387–388.

8. .... If the so-called philosophers who followed Kant had not written even more mystically and allowed their imagination so much play, if in one word thus had kept as Kant wanted them to do within the boundries of experience. वही, पेज नं. 387–388.

9. His (Kant's) whole accepted philosophy ought, I think, to have been easily understood at least by all educated people, and to have been so comprehensible that no misunderstanding could arise. It is, however, only my humble self who thinks and perhaps I am wrong. It is for this reason that I only value Plato when he is quite comprehensible and speaks clearly. वही, पेज नं. 387–388.

10. गोमर्न चिकित्सा–कार्य के साथ साहित्य–साधना के सहारे रसायनशास्त्र संबंधी कई पुस्तकों का अनुवाद, अपनी स्वतंत्र टीका–टिप्पणी अपने सम्पादन के साथ लिखकर कराया। चिकित्सा–जगत् में इस पुस्तक का आशातीत सभादर हुआ। विद्वानों ने उनकी रचना की केवल प्रशंसा ही नहीं की, प्रत्युत मुक्तकंठ से यह स्वीकार किया कि मूलभाषा की पुस्तक से वह अनुवाद और टीका कहीं अधिक सारगर्भित हुई। इस प्रशस्ति ने महात्मा

हैनिमैन को बहुत ऊँचाई पर चढ़ा दिया। टैनसिलवैनिया में विशाल पुस्तकालय की सभी महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का अध्ययन करना, नयी भाषा को सीखकर पुनः उन पुस्तकों का चिन्तन–मनन करना तथा अंग्रेजी से जर्मन भाषा में रसायन–शास्त्र, वनस्पति–विज्ञान, भाषा शास्त्र, जीवशास्त्र, मानव शास्त्र, समाज–शास्त्र आदि अनेंको पुस्तकों का अनुवाद और मूल ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत करना एक अलौकिक बात ही कहीं जा सकती है। वनस्पतिशास्त्र पर एक पुस्तक का अनुवाद इतनी ख्याति प्राप्त की कि मूल पुस्तक से अधिक पूछ उनकी उस पुस्तक की हुई। ऑर्गेनन :– 'सैमुएल फ्रेड्रिक हैनिमैन' का हिन्दी अनुवाद, द्वारा डॉ. सुरेश शर्मा, पृष्ठ सं. 2–15.

11. चुलेन हिपोक्रेटस का अनुयायी था। हिपोक्रेटस एलोपैथी के जन्मदाता थे और यूनान के रहने वाले थे। ऑर्गेनन ऑफ मेडिसिन ऑफ हैनिमैन :– डॉ. बी.के. सरकार, पृष्ठ सं. XXXI.
12. ऑर्गेनन : एस.एफ. हैनिमैन, सूत्र 9 का हिन्दी अनुवाद.
13. ऑर्गेनन : एस.एफ. हैनिमैन, सूत्र 10 का हिन्दी अनुवाद.
14. *Meteria Medica Pura Vol. 1 (Chapter - Spirit of the Homoeopathic Medical Doctrine) : Dr. S.F. Hahnemann, Page 7 and also in Lesser Writings, page-618.*
15. आपने स्प्रिचुअल (Spiritual) शब्द का प्रयोग किया है जैसे (Spiritual Vital Force) स्प्रिचुअल व्हाइटल फोर्स। व्हाइटल फोर्स तो आत्मा के रूप में प्रयोग हुआ ही है। यहां लेकिन पारलौकिक जीवनीशक्ति के रूप में अवतरित हुआ है, चूंकि आत्म–शक्ति सुषुप्तावस्था में भौतिक पदार्थ में भी उपस्थित रहता है। ऑर्गेनन : एस.एफ. हैनिमैन, सूत्र 19 का हिन्दी अनुवाद.
16. ऑर्गेनन : एस.एफ. हैनिमैन, सूत्र 20 का हिन्दी अनुवाद.
17. ऑर्गेनन : एस.एफ. हैनिमैन, सूत्र 11 का हिन्दी अनुवाद.
18. ऑर्गेनन : एस.एफ. हैनिमैन, सूत्र 15 का हिन्दी अनुवाद.
19. ऑर्गेनन : विलियम बोरिक' सूत्र 12 का फूट नोट कमेन्ट से लिया गया। पेज नं. 99 *Ninth edition.*
20. ऑर्गेनन : एस.एफ. हैनिमैन – हिन्दी अनुवाद एस. भट्टाचार्या एण्ड कम्पनी प्रा. लिमिटेड कलकत्ता, प्रकाशित 1976, पृष्ठ 45.

डॉ. अम्बेडकर का हिन्दू धर्म से दार्शनिक अभिनिष्क्रमण

डॉ. नरेन्द्र कुमार बौद्ध

नवबौद्ध आंदोलन का शंखनाद एक ही महाविचारधारा के दो स्तरों का दूरगामी परिणाम है। एक स्तर हिन्दू धर्म का है और दूसरा स्तर इसका मूल हिंदुत्व है। नवबौद्धवाद, हिंदुत्व के ही एक महावृक्ष के रूप में स्थापित हुआ। चूँकि इस विराटता को उभरने और हिंदुत्व का परिचय कराने के लिए एक बहुत बड़े वर्ग की आवश्यकता थी, जो अपनी अस्मिता को स्वयमेव परिलक्षित करता और इसी का नेतृत्व केवल डॉ. अम्बेडकर ने किया। हाँलाकि यह कार्य बुद्ध के समय अपनी चरम सीमा पर था लेकिन बुद्ध के पश्चात् यह आंदोलन कई ऐतिहासिक कारणों से अपने में सिकुड़ता गया।

एक ओर हिन्दू धर्म को जहाँ वेद, उपनिषद् और वेदान्त से सींचा गया वहीं दूसरी ओर एक बहुत बड़े वर्ग को सामाजिक एवं धार्मिक स्तर पर अपनी अस्मिता बनाये रखने में कठिनाई हो रही थी, यहां तक कि वह बहुत पीछे छूटा जा रहा था। यह आंदोलन जो तर्कहीन परम्पराओं के विरोध में प्राचीन काल में चार्वाक, यास्क और वृहस्पति आदि ने प्रारंभ किया था, उसी का परिणाम था। यदि यह आंदोलन धार्मिक स्वायत्तता को आत्मसात् करता तो शायद आज इससे सम्बन्धित वर्ग इस राष्ट्र का अभिन्न अंग न होकर कोई छोटा सा देश के रूप में होता और अम्बेडकर एक राष्ट्रपिता के रूप में जाने जाते, महान सामाजिक–दार्शनिक विचारक के रूप में नहीं। और फिर इस देश की जनता अन्य कट्टरवादी सम्प्रदायों की तरह अपने ही विरासती धर्मावलंबियों से लड़–मर रही होती। हिन्दुत्व, अनेक भिन्न मतों, विचारधाराओं की श्रेणियों का समूह है। हिंदुत्व में एकत्ववादी, बहुदेववादी, प्रकृतिवादी, शैव, वैष्णव, शाक्त, ग्राम देवता के पूजक, स्थान देवता के पूजक और कुल देवी के पूजक आदि सम्मिलित हैं।[1] इसलिए यह एक धर्म नहीं है। अतएव कहा जा सकता है कि नवबौद्धवाद आंदोलन छद्म धर्म से यथार्थ धर्म की ओर संक्रमण है।

यह आंदोलन आत्म–अभिव्यक्ति की एक प्रक्रिया और उसके चारों ओर वातावरण की एक खोज था, जो स्वतंत्रता, समता एवं भ्रातृभाव को खोज रहा था, जिसका उद्देश्य मनुष्य तथा ईश्वर के बीच सम्बन्ध स्थापित न करना होकर केवल मानव के बीच अच्छे व शुभ सम्बन्ध स्थापित करना था। हिन्दुवादी धर्म के विरोध का मतलब यह कतई नहीं है कि डॉ. अम्बेडकर धर्म को जीवन में कोई स्थान नहीं देना चाहते थे, वरन् वरीयता की दृष्टि से उन्होंने अपने दर्शन में धर्म और नैतिकता को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। वे धर्म की ज्ञानमीमांसा, तत्वज्ञान तथा सत्तामीमांसा की सूक्ष्मताओं एवं उलझनों से दूर रहे क्योंकि उनकी दृष्टि में सामान्य मनुष्यों के लिए इनकी कोई उपयोगिता नहीं थी। लोगों को घनिष्ठ सम्बन्धों में नैतिकता ही बाँध सकती है इसके अभाव में समाज समृद्ध एवं समुन्नत नहीं बन सकता। नैतिकता का प्रादुर्भाव सीधा मनुष्य की उस आवश्यकता से होता है जिसके तहत वह मनुष्य के प्रति प्रेम प्रदर्शित करता है। डॉ. अम्बेडकर ने नैतिकता को ईश्वर, नित्य–आत्मा, पूजा–पाठ, अनुशासन, क्रिया–कर्म तथा अन्य यज्ञ–बलियों के साथ नहीं जोड़ा जैसा कि अन्य धर्मों में मिलता है। हिन्दू और बौद्ध धर्म में मुख्य अंतर यह रहा है कि जहाँ एक ओर हिंदुत्व परम्परा और धारणा को ही धर्म माना है। वहीं बौद्ध धर्म, धर्म की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए, परम्परा एवं धारणाओं को ध र्म का अंग नहीं मानता। बौद्ध धर्म के अनुसार "तर्कसंगत ज्ञान ही धर्म है।2" प्रश्न यह है कि समानता की दृष्टि से धर्म की धारणा को मानना या न मानना आवश्यक है? अतः विचारणीय बिन्दु यह होना चाहिए कि समानता प्राप्ति के प्रयास कैसे होंगे न यह कि कौन सा धर्म या कौन सी विचारधारा श्रेष्ठ है। धर्मग्रन्थों में वर्णित विषयों के बारे में हिन्दू धर्म की मान्यता है कि यह सनातन एवं ईश्वर निर्मित है3 जबकि बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म ग्रन्थों को अतार्किक मानते हुए उन पर चर्चा करना पसंद नहीं करते। वेद प्रमाण, ईश्वर कर्तृत्ववाद, स्नानादि से पाप का निवारण, जन्मना जाति की मान्यता इत्यादि धारणायें हिन्दू धर्म की अतार्किक धारणाओं के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

डॉ. अम्बेडकर का मानना रहा है कि विज्ञान के प्रभाव में आकर लोग धर्म को त्रुटि मानते हैं इसलिए वे धर्म का परित्याग आवश्यक समझते हैं। धर्म जीवन तथा सामाजिक गतिविधियों को जारी रखने के लिए जरूरी है। आज की परिस्थिति में धर्म की आवश्यकता एवं प्रासंगिकता पहले से कहीं अधिक है। धर्म मानवता के लिए जरूरी है। यदि धर्म समाप्त होगा तो समाज भी समाप्त हो जायेगा। कोई भी सरकार मनुष्य को वह सुरक्षा और अनुशासन की छाया नहीं दे सकती जो नीति और धर्म से उसे मिलती है। यदि धर्म मानव के लिए आवश्यक है तो किन कारणों से धर्म भारतीय परम्परा में एक बहुत बड़े वर्ग को धार्मिक सुरक्षा और आश्वस्ति प्रदान करने में असमर्थ रहा? हिन्दू धर्म के विशेष सन्दर्भ में इस समस्या पर विचार करते

हुए कहा जा सकता है कि दलितों के लिए एक अलग धर्म की आवश्यकता की एक महत्वपूर्ण वजह यह रही है कि हिन्दू समाज की चतुर्वर्ण व्यवस्था तथा कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांतों के चलते दरिद्रता और दासता को उनकी नियति और भवितव्यता मान लिया गया है। उनमें जीवन के प्रति उत्साह नहीं निराशा थी और जिनके लिये जीवन ही बोझ हो उन्हें कार्य के लिये, उन्नत जीवन हेतु संघर्ष करने के लिए प्रेरित और उद्यत कैसे किया जाए? यह महत्वपूर्ण समस्या अम्बेडकर के सम्मुख थी। निरीह, निर्धन और निराश लोगों के जीवन का एक मात्र सहारा धर्म है, धर्म से ही उन्हें कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। धर्म व्यक्ति की रक्षा करता है। डॉ. भगवानदास के अनुसार "धर्म व्यक्ति के लिये होता है न कि व्यक्ति धर्म के लिये।" धर्म को व्यक्ति के अस्तित्व एवं महत्व को स्वीकार करना चाहिये तथा उसके आध्यात्मिक एवं बौद्धिक विकास के लिये अनुकूल वातावरण का निर्माण करना चाहिये।

डॉ. अम्बेडकर ने धर्म के सम्बन्ध में मुख्य तीन महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर जोर दिया है –

- धर्म क्या है?[4]
- किसी धर्म का आदर्श प्रयोजन नियम कार्य शैली जिसके लिए वह धर्म अस्तित्वमान है, कैसा है?[5]
- धर्म में ईश्वरीय शासन की आदर्श प्रयोजन, जिसको कार्य रूप प्रदान करने के लिये कोई धर्म खड़ा होता है, के मूल्यांकन की कसौटी क्या है? या परीक्षण कैसे किया जा सकता है?[6]

धर्म की व्याख्या के सम्बन्ध में अम्बेडकर का मानना है कि धर्म लोगों को एकता में बांधता है, एवं सामान्य धार्मिक नियम व्यक्ति के व्यवहार का नियमन करते हैं। क्योंकि नियमों की प्रकृति पर ही सामाजिक एकता की प्रकृति निर्भर करती है। जैसे यदि कोई धर्म व्यक्ति को इकाई न मानकर समूह को इकाई मानता है और उसके नियम विभिन्न समूहों के कार्य एवं उनमें आदान–प्रदान को परिलक्षित करते हैं तो उस धार्मिक समूह में एकता का स्वरूप उससे भिन्न होगा जो व्यक्ति को महत्व देता है और जिसके नियम व्यक्ति के कार्यों तथा व्यक्ति और व्यक्ति के बीच सम्बन्धों का निर्धारण करते हैं।

डॉ. अम्बेडकर के अनुसार धर्म की स्थापना धर्मशास्त्रों के अनुशीलन के आधार पर हो सकती है। इस अनुशीलन का उद्देश्य दैवीय नियमन का एक आदर्श प्रयोजन जिसका लक्ष्य उस सामाजिक व्यवस्था, जिसमें लोग रहते हैं, को एक नैतिक व्यवस्था बनाना है। महत्वपूर्ण बात यह कि धर्म का प्रयोजन क्या है? प्रत्येक धर्म में कोई न कोई आदर्श प्रयोजन होता है जिसे सामान्यतः दैवीय शासन अथवा योजना के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। धर्म का अस्तित्व मुख्यतया उसमें

प्रतिपादित आदर्श प्रयोजन की रक्षा का पोषण करने के लिये होता है। यह आदर्श प्रयोजन धर्मग्रन्थों में निहित होता है जो धर्मावलंबियों के सामाजिक, धार्मिक एवं संस्कारात्मक व्यवहारों को नियमित करते हैं। सामान्यतया, धर्मग्रन्थ ईश्वर प्रणीत या ईश्वरीय भक्ति से विभूषित मानव द्वारा प्रणीत माने जाते हैं, इसलिए उनमें जिन सिद्धांतों, नियमों एवं आदर्शों का प्रतिपादन किया जाता है वे ईश्वरीय माने जाते हैं और उन सिद्धांतों एवं नियमों के आधार पर जिस आदर्श व्यवस्था की रचना की जाती है वह व्यवस्था भी ईश्वरीय स्वीकार कर ली जाती है। जैसे ईसाई धर्म में बाइबिल, इस्लाम में कुरान, हिन्दू धर्म में वेद, गीता आदि उन–उन धर्मावलंबियों के धार्मिक, संस्कारात्मक एवं सामाजिक जीवन को नियन्त्रित करते हैं।

धर्म का अन्य महत्वपूर्ण आयाम किसी धर्म के दैवीय शासन की आदर्श योजना, जिसकी स्थापना के लिये वह अस्तित्व में होता है, का मूल्य आंकने के लिये मापदण्ड का निर्धारण करना होता है। यह धर्म में होने वाले क्रांतिकारी परिवर्तनों से निरूपित होता है। आरम्भ में ज्ञान की सभी शाखायें धर्म में समाहित थी। यह विश्वास किया जाता था कि धार्मिक ज्ञान पवित्र, सत्य एवं अकाट्य है। जैसे चिकित्सा के सम्बन्ध में धार्मिक दृष्टिकोण था कि व्याधियाँ या तो व्यक्ति के पापों के लिये ईश्वरीय दण्ड है या व्यक्ति के शरीर में बुरी आत्माओं के प्रवेश या प्रभाव से उत्पन्न हुई हैं। परिणामस्वरूप इनका निदान ईश्वर की पूजा या आराधना करने अथवा सन्त पुरूषों के आर्शीवाद प्राप्त करने से हो सकता है। धर्म ने शरीरविज्ञान और मनोविज्ञान को अपने दायरे में समेटने का दावा किया और प्रतिपादित किया कि शरीर और आत्मा दो भिन्न वस्तुएँ हैं। कॉपरनिकस के क्रांतिकारी चिंतन एवं डार्विन के विकासवाद के सिद्धांत के परिणामस्वरूप धार्मिक ज्ञान का क्षेत्र संकुचित हुआ और धर्म की सत्ता सिमटने लगी। चिन्तन के क्षेत्र में धर्म की प्रभुता का समाप्त होना एक बहुत बड़ी क्रांति थी। इस क्रांति ने स्वतंत्र चिंतन को जन्म दिया और समाज अंधविश्वास, रहस्यवाद तथा दैवीय भय से मुक्त हुआ और व्यक्ति की आत्मोन्नति तथा समाज की प्रगति का आधुनिक मार्ग प्रशस्त हुआ। संस्कृति से भिन्न सभ्यता के विकास को सम्भव बनाने में लौकिकीकरण की प्रक्रिया का स्वागत न केवल वैज्ञानिकों अपितु धार्मिक प्रवृत्ति के लोगों ने भी किया। विज्ञान का उदय धार्मिक चिन्तन की प्रक्रिया में निस्संदेह एक महत्वपूर्ण क्रांति थी किंतु इस क्रांति ने धर्म के चिंतन क्षेत्र एवं सत्ता को भी प्रभावित किया। जिसके फलस्वरूप धर्म के दर्शन को जांचने का मापदण्ड क्या हो, इसे जानने के लिये धर्म के क्षेत्र में होने वाली एक दूसरे प्रकार की क्रांति को समझने की आवश्यकता पड़ी। इसका सीधा सम्बन्ध ईश्वर और व्यक्ति के बीच, समाज और व्यक्ति के मध्य एवं व्यक्ति एवं व्यक्ति के बीच सम्बन्ध की अवधारणाओं की प्रकृति व अन्तर्वस्तु से है। इस दर्शन को अति प्राचीन या असभ्य और सभ्य समाज के धर्मों के बीच अंतर के माध्यम से समझा जा सकता है।

अति प्राचीन समाजों में धर्म का सम्बन्ध जीवन या अस्तित्व संरक्षण से रहा है। इसके अन्तर्गत अनेक प्रकार के संस्कार व कर्मकाण्ड होते हैं जो किन्हीं विशेष अवसरों या संकट के समय में सम्पन्न किए जाते हैं। सभ्य समाज में धर्म का सम्बन्ध उस जीवन प्रक्रिया से है जिसमें व्यक्ति के जीवन की रक्षा हो और प्रजाति की निरन्तरता बनी रहे। यहां दोनों समाजों के धर्मों में मुख्य अन्तर यह है कि अति प्राचीन समाज के धर्म में ईश्वर की अवधारणा नहीं थी और नैतिकता का अस्तित्व धर्म से पृथक् था जबकि सभ्य समाज में ईश्वर, धर्म का अभिन्न अंग बना और नैतिकता धर्म द्वारा अनुमोदित होती हुई प्रतीत होती है। यह धार्मिक क्रांति का पहला चरण है।

धार्मिक क्रांति के द्वितीय चरण में अधिक मौलिक परिवर्तन हुए जिसमें सभ्य समाज दो खण्डों में विभक्त हो गया – प्राचीन और आधुनिक समाज। प्राचीन समाज में ईश्वर और व्यक्ति सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक सम्पूर्णता के अंग हैं। धर्म, ईश्वर और उसके अनुयायियों के बीच नातेदारी सम्बन्ध पर आधारित होता है। आधुनिक समाज ने अपनी रचना से ईश्वर का निरसन किया है, जो केवल व्यक्तियों से रचित है। प्राचीन समाज में ईश्वर किसी एक समूह का है अर्थात् किसी एक समाज से कोई एक ईश्वर जुड़ा होता है इसलिए यहाँ सार्वभौमिक ईश्वर नहीं है इसलिए सामान्य मानवीयता के विचार का भी अभाव है। प्राचीन समाज ईश्वर को पालक के रूप में मानता है, जबकि आधुनिक समाज ईश्वर को एक छवि के रूप में स्वीकारता है जिसमें सभी अच्छाइयाँ और गुण होते हैं जो सर्वशक्तिमान है। प्राचीन समाज में धर्म परिवर्तन का अर्थ राष्ट्रीयता में परिवर्तन है, लेकिन आधुनिक समाज एक धर्म के परित्याग से सामाजिक एकजुटता का प्रभावित होना जरूरी नहीं है। प्राचीन समाज में ज्ञान का सम्बन्ध धार्मिक ज्ञान से है अर्थात् ईश्वर द्वारा बनाये गये नियमों एवं उसके आदेशों का पालन करना है। व्यक्ति जिस धर्म में पैदा होता था जीवन में चेतन या अचेतन रूप से रीति रिवाजों, नियमों एवं विश्वासों को अपनाता था। आधुनिक समाज में धर्म वैयक्तिक विश्वास की वस्तु है, जिसे तार्किक औचित्य के आधार पर स्वीकार जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि समाज में दो प्रकार की धार्मिक क्रांति हुई – एक बाह्य क्रांति और दूसरी आंतरिक क्रांति। बाह्य क्रांति, अनधिकृत क्षेत्रों में धर्म के प्रभाव के विरूद्ध विज्ञान का विद्रोह थी। इसका उद्देश्य मुख्यतः उन मापदण्डों का पता लगाना है जिनके आधार पर सही और गलत का निर्णय किया जाता है। प्राचीन समाज में अपनाये गये धार्मिक आदर्श का लक्ष्य समाज था जबकि आधुनिक समाज में व्यक्ति। अर्थात् प्राचीन समाज में सही–गलत के निर्णय की पहचान उपयोगिता के आधार पर की जाती थी जबकि आधुनिक समाज में सही और

गलत का निर्णय न्याय के आधार पर किया गया जाता है। आंतरिक क्रांति वस्तुतः धार्मिक क्रांति थी जिसने समाज की दैवीय नियमन और व्यवस्था में परिवर्तन एवं संशोधन किये और पुनर्रचना की।

बौद्ध धर्म में बुद्ध ने सभी प्रकार की स्वतंत्रता सामाजिक, बौद्धिक, आर्थिक एवं राजनैतिक स्वतंत्रता की शिक्षा दी, उन्होंने अपनी शिक्षाओं में मानव जीवन के जितने विस्तृत पक्ष को समाहित किया है उतना शायद ही किसी अन्य धर्मों में हो। बुद्ध का यह आंदोलन अपने तात्कालिक समय में उत्तरकालीन ब्राह्मणवाद के विरोध में था जिसका ब्राह्मणों ने लोहा भी माना। अम्बेडकर की दृष्टि में उस समय और आज भी विश्व में बौद्ध धर्म ही एक मात्र ऐसा धर्म है जो उनकी कसौटियों पर खरा उतरता है। इसी का दूरगामी सुपरिणाम था कि अम्बेडकर ने भी हिन्दू धर्म का विद्रोह कर बड़े वर्ग के साथ बौद्ध धर्म की ओर संक्रमण किया। ऐसी स्थिति में क्या अम्बेडकर को हिन्दू विरोधी माना जाना चाहिए? यदि डॉ. अम्बेडकर का जन्म न हुआ होता तो वह समाज का अंग जो उस समाज से पीछे था क्या आज भारतीय समाज में अपना अस्तित्व बचा पाता ? या बचा पाता तो संवैधानिक अधिकारों के अभाव में उसकी क्या स्थिति होती ?

स्वतंत्र और सुसम्पन्न राष्ट्र में यह आवश्यक है कि इसकी संस्कृति के मूल वर्ग का समन्वयात्मक स्वरूप स्थापित हो। और इस वर्ग को सही एवं उचित स्थान दिलाने में हिन्दू धर्म और दर्शन का आध्यात्मिक और सांस्कृतिक योगदान अपरिहार्य है। इसकी पूर्ति हेतु सामाजिक वैज्ञानिक अनुसंधान और हिन्दू संस्कृति के विभिन्न सम्प्रदाय, उपसम्प्रदाय, संस्थाएँ, धर्म प्रतिनिधि, विद्वान धर्मानुयायी का आह्वान कर उन्हें एक मंच पर एक साथ लाकर उनके विचारों का चिन्तन और मंथन कर निदान करने की पहल की जाये।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि यह आंदोलन व्यक्तिगत न होकर सामाजिक और धार्मिक था जो परिस्थितिवश और सिद्धांतपरक है। अम्बेडकर की सम्पूर्णतः धर्म के प्रति आस्थावान, समतावादी, समन्वयवादी, अहिंसावादी, यथार्थवादी एवं दलित समाज के सर्वमान्य नेतृत्व के रूप में स्पष्ट छाप भारतीय समाज में उभरी है। उनके नेतृत्व के अभाव में यह वर्ग भी भारतीय मुख्य धारा में अपने–आप को जोड़ने में शायद असमर्थ पाता। बाबा साहब अम्बेडकर ने तो भारतीय सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक गरिमा को मजबूत और परिपुष्ट ही किया।

संदर्भ सूची

1. *अम्बेडकर, बी.आर. : डॉ. भीमराव जी अम्बेडकर का भाषण एवं लेखन, खण्ड 4, पहेली 1, पृ. 15.*
2. *वही, खण्ड 3, पृ. 442.*

3. *अम्बेडकर, बी.आर. : डॉ. भीमराव रामजी अम्बेडकर का भाषण एवं लेखन, खण्ड 4, पहेली 2, पृ. 16.*
4. *वही, खण्ड 4 की अनुक्रमणिका, पृ. 3 एवं 4.*
5. *उद्धृत, डॉ. भीमराव अम्बेडकर : समाज वैज्ञानिक, रामगोपाल सिंह, म.प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, पृ. 90.*
6. *वही, पृ. 91.*

दर्शन शास्त्र विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

आधुनिक विश्व में दर्शन और दार्शनिकों की भूमिका*

प्रोफेसर श्याम नारायण चौधरी

माता वैष्णो देवी की इस परम पावन भूमि पर अवस्थित भारत के प्रख्यात विश्वविद्यालय 'जम्मू विश्वविद्यालय' में आयोजित अखिल भारतीय दर्शन–परिषद् के 54वें अधिवेशन का प्रधान सभापति का दायित्व देकर आपने जो मुझे सम्मानित किया है, इसके लिए परिषद् के सभी माननीय सदस्यों, कार्यकारिणी के पदाधिकारियों और विशेष रूप से दर्शन और दार्शनिकों की इस महान संस्था के अध्यक्ष प्रोफेसर एस. पी. दुबे जी के प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ। इस अवसर पर मैं पूर्व एवं पश्चिम के उन सभी दार्शनिकों के प्रति श्रद्धा–सुमन अर्पित करना चाहता हूँ जिनके विचार आज भी हमारे प्रकाश–स्तंभ बने हुए हैं और जिनसे सहमति या असहमति के इर्द–गिर्द समस्त मानव ज्ञान का आधार बहुआयामी दर्शन–शास्त्र का विराट ताना–बाना कालान्तर से बुना जाता रहा है जो आधुनिक जगत् में भी सम्पूर्ण सार्थकता के साथ गतिमान है।

सम्यक् विचार मंथन के पश्चात् मैंने 'आधुनिक विश्व में दर्शन और दार्शनिकों की भूमिका' विषय को अपने प्रधान अध्यक्षीय अभिभाषण के लिए निरूपित किया है, क्योंकि मेरी मान्यता है कि दर्शन समग्र मानवीय जिज्ञासा एवं कार्यकलापों का नियामक पथ–प्रदर्शक स्वतः प्रकाश्य प्रकाश–पुंज है और दार्शनिक इस प्रकाश–पुंज के संवाहक हैं। दर्शन जीवन और जगत् संबंधी सत्य की जिज्ञासा का एक समग्र बौद्धिक प्रयास है, जिसके संबंध में पाश्चात्य दर्शन के सुव्यवस्थित स्वरूप के संस्थापक प्लेटो ने कहा था कि 'इस जिज्ञासा की उत्पत्ति आश्चर्य से होती है।' प्रसिद्ध चिन्तक जी. टी. डब्लू पेट्रिक ने इसे बहुत मनोरंजक रूप से प्रस्तुत करते हुए कहा है कि 'एक नन्हीं–सी बालिका घर की खिड़की से विचारमग्न होकर बाहर देखती है। तुरत पलटकर वह अपनी माँ से पूछती है कि माँ ! यह जगत् कैसे आया?' और इसी चिन्तन के साथ वह दार्शनिक बन गयी।[1] इसी आश्चर्यजन्य जिज्ञासा ने मानव को अपने दृश्यमान व्यक्त जगत् की तार्किक परिकल्पनाएँ करने

*अखिल भारतीय दर्शन–परिषद् (54वां) अधिवेशन, अध्यक्षीय भाषण

के लिए उसे अनादिकाल से उकसाया है, जिसके परिणामस्वरूप दर्शन की विभिन्न धारायें निःसृत हुई हैं और जो क्रम अद्यावधि अबाधित एवं अविच्छिन्न रूप से विभिन्न भौगोलिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक वैभिन्य के साथ प्रवाहित है। काल की गति के साथ दार्शनिक जिज्ञासायें भी गतिमान स्वरूप की हैं और यही गतिमानता दर्शन की संजीवनी शक्ति या जिजीविषा है जो विभिन्न काल–विशेषों में इस जिज्ञासा की प्रासंगिकता एवं सार्थकता अवबोधित करती है। इस संदर्भ में भी यह 'जिज्ञासा' स्वाभाविक है कि आधुनिक विश्व में दर्शन और दार्शनिकों की भूमिका क्या है ?

'आधुनिक विश्व' से यहाँ तात्पर्य मानव–विकास के उस वर्तमान कालखंड से है, जिसे बहुधा 'विज्ञान और तकनीक' के युग की संज्ञा दी जाती है। यहाँ यह विचार कर लेना समुचित है कि 'विज्ञान' क्या है ? वेब्सटर ने अपने कोष में विज्ञान का समानार्थक शब्द 'साइंस' की व्याख्या विभिन्न रूप में करते हुए कहा है कि विज्ञान संचित और सर्वजन स्वीकृत ज्ञान है, जिसे सामान्य सत्यों की खोज या सामान्य नियमों की क्रिया के संदर्भ में, व्यवस्थापित और निरूपित किया गया है। लैटिन शब्द 'साइंस' का प्रयोग भी लगभग इसी अर्थ में किया गया है, जिसकी परिधि से धर्म एवं दर्शन भी पृथक् नहीं था।[2] विलियन सेसिल डेंपियर के अनुसार विज्ञान नैसर्गिक घटनावली और उनके बीच संबंधों का सुसंबद्ध ज्ञान है। आधुनिक विज्ञान परीक्षण और प्रेक्षण–सापेक्ष है। 15वीं और 16वीं शदी में इतावली रिनेसाँ; पुनर्जागरणद्ध के वातावरण में आधुनिक विज्ञान का जन्म हुआ, जिसके मूल में लियोनार्डो, वैशालियस, गैलीलियो, हार्वे आदि वैज्ञानिकों का श्रेय है, जिनकी प्रेक्षण और परीक्षण के आदर्श के प्रति प्रतिबद्धता थी। निर्विवाद रूप से इस वैज्ञानिक पद्धति की स्थापना का श्रेय फ्रांसिस बेकन को है, जिन्होंने परवर्ती काल के वैज्ञानिक गवेषणा के लिए विलक्षण आधार प्रस्तुत किया, जिसका प्रभाव आज भी दृष्टिगोचर होता है। इसलिए बहुधा विज्ञान को नैसर्गिक घटनावली और उनके संबंधों के विषय में परीक्षण और पर्यवेक्षण द्वारा प्राप्त सुव्यवस्थित ज्ञान कहा जाता है। 'तकनीक'; टेक्नोलॉजीद्ध शब्द ग्रीक शब्द 'टेकने' से आया है, जिसका तात्पर्य 'कला' अर्थात् वैज्ञानिक ज्ञान को उपयोग करने की कला से है।

इतावली रिनासाँ से पूर्व ही पश्चिम में स्पेन से लेकर भारत तक विशाल भूखंड की विभिन्न जातियों ने विज्ञान के क्षेत्र में आश्चर्यजनक कार्य किया था। अरबी विज्ञान से पहले दूसरी से लेकर आठवीं–नवमी शदी की लगभग 700 वर्षों की अवधि में सिन्धु–गंगा–यमुना–ब्रह्मपुत्र के क्षेत्र भारत में और चीन, जापान, कोरिया आदि पूर्व के देशों में विज्ञान–साधना मानवीय प्रतिभा का एक जाज्वल्यमान इतिहास प्रस्तुत करता है। थेलिस से लेकर गैलेन तक आठ सौ

वर्षों की अवधि में अनेकानेक उत्थान–पतनों की अनुभूति करते हुए विज्ञान की धारा निर्वाध गति से प्रवाहित होती रही। पिथागोरस, अरस्तू, आर्किमिडिज, यूक्लिड, हिपार्कस, टोलेमी, गैलेन आदि वैज्ञानिकों ने विभिन्न भूभागों में गणित, ज्योतिष, भूगोल, चिकित्सा शास्त्र, जीवविज्ञान आदि क्षेत्रों में विस्मयकारी उपलब्धियाँ मानव जाति को प्रदान की थी। इसी को इंगित करते हुए अल्फ्रेड व्हाईटहेड ने एक बार कहा था कि ईसा के पूर्व तीसरी सदी में आर्किमिडिज को गणित, यांत्रिकी, भौतिकी आदि विषयों का जितना ज्ञान था उतना चौदहवीं और पंद्रहवीं सदी में यूरोप के श्रेष्ठ गणितज्ञों और भौतिकविदों का विज्ञान के इन विषयों का ज्ञान उनसे कहीं कम था।[3]

आधुनिक विज्ञान से पुनर्जागरण–पूर्व विज्ञान का मुख्य प्रभेद यह है कि आज जिस प्रकार विज्ञान ने एक स्वतंत्र सत्ता प्राप्त कर ली है, वैसी स्थिति पहले नहीं थी। मध्ययुग एवं उसके पूर्व में दर्शन और धर्म–तत्व के पालने में ही विज्ञान का जीवन स्पंदित हो रहा था और ग्रीककाल में विज्ञान दर्शन का ही नामांतर था। ग्रीक अभ्युत्थान के उपरांत लगभग ईसा पूर्व सातवीं सदी से ही वास्तविक विज्ञान–चर्चा का प्रारंभ हुआ। कतिपय चिंतकों का यह मत है कि ग्रीकों से पूर्व अनेक प्रकार की विधायें थीं किन्तु विज्ञान नहीं था। विज्ञान से हम जो कुछ भी समझते हैं उसका श्रेय ग्रीक दार्शनिकों को ही जाता है।[4] किन्तु पुरातात्विक अन्वेषणों से यह धारणा मेल नहीं खाती प्रतीत होती है क्योंकि ग्रीक लोगों के कम से कम 2000 वर्ष पूर्व ताईग्रिस–यूफ्रेटिस नील नदी और सिन्धु की उर्वर घाटियों में जिन जातियों ने मानव सभ्यता का आधार स्थापित किया था, विज्ञान संबंधी उनकी देन को अस्वीकार करना इतिहास को नकारने के बराबर होगा। जिन जातियों की मननशीलता के कारण वर्ष, मास, ऋतु, राशिचक्र, ग्रहण, काल–निर्णय, शिरोबिंदु और उसका परिक्रमा–पथ आदि दुरूह ज्योतिष विज्ञान संबंधी अविष्कार हुए और जिनके प्रयत्न से सर्वप्रथम अंकगणित, ज्यामिति, बीजगणित आदि का उद्भव एवं विकास हुआ, जिस ज्ञान का उपयोग विभिन्न पिरामिडों के रूप में आज भी उपलब्ध है। जिन लोगों ने सोना, चाँदी, पीतल, तांबे, शीशा, लोहा, खाद्य, खनिज पदार्थों, अनेक प्रकार के रंगों, कांच और चीनी मिट्टी आदि वस्तुओं का निर्माण कर अपने विस्मयकारी रासायनिक ज्ञान का परिचय दिया, उन्हें विज्ञान की परिधि से बाहर रखना उचित नहीं प्रतीत होता है। बेबीलोन और मिस्र के रहस्य भी अब धीरे–धीरे उद्घाटित हो रहे हैं और यह दावा किया जा रहा है कि उनके वैज्ञानिक ज्ञान ग्रीक लोगों से अधिक उन्नत थे। इसके अतिरिक्त मोहनजोदड़ो के पूर्व–पाषाण और नवपाषाण युग में असहाय, निराश्रय मानव–समुदाय प्रकृति

के साथ जुझते हुए जीवन धारण करता या उसके द्वारा अग्नि प्रज्वलित करने के साथ कृषि, पशुपालन, कुटीर–निर्माण, मिट्टी के बर्तन आदि बनाने का ज्ञान कतई कम विस्मयकारी नहीं है। आत्मरक्षा और जीवन धारण के उद्देश्य से जब आदिकाल के मानव ने एक कठोर पत्थर से अस्त्र कुल्हाड़ी, हल आदि बनाया होगा, उसी की विरासत ने आज मानव को आधुनिक काल में जटिल वैज्ञानिक अनुसंधान करने का मार्ग प्रशस्त किया है। यह स्वीकारना सर्वथा उचित होगा।

इस प्रकार विज्ञान का मूल दर्शन की तरह ही सुदूर अतीत में है। आदिम युग में भोजन की खोज में जंगलों में भटकते समय मानव का वनस्पति तथा प्राणी जगत् से जो समन्वय स्थापित हुआ उसी मूल सूत्र से बाद में वनस्पति विज्ञान आदि की उत्पत्ति हुई। इस संदर्भ में जे0 जी0 क्राउथर की यह उक्ति विचारणीय प्रतीत होती है कि ''विज्ञान व्यवहार की वह पद्धति है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने पर्यावरण पर आधिपत्य स्थापित करता है। पशु से मनुष्य में उसका विकास प्रकृति के प्रति एक नवीन अभिव्यक्ति द्वारा हुआ, जिसमें उसने अपने पर्यावरण के अंतर्वस्तुओं का अध्ययन, अपने हित के लिये उनके उपयोग, उनका प्रयोग करने के उद्देश्य से प्रारंभ किया। उसकी इस क्रिया के उपकरण ने विज्ञान को जन्म दिया।''[5] यह सर्वथा स्वीकार्य है कि आधुनिक विज्ञान ने जिज्ञासु मानव के भौतिक या जागतिक ज्ञान में अभिवृद्धि की है और नवीन तकनीक के महत्वपूर्ण अविष्कारों एवं प्रयोगों से मानव–जीवन को अधिकाधिक भौतिक सुख–सुविधा संपन्न बनाने की दिशा में काफी कुछ किया है और इस दिशा में निरंतर महत्वाकांक्षी प्रयास जारी हैं। इसके फलस्वरूप मानव के जीवन और दृष्टिकोण में क्रांतिकारी परिवर्तन परिलक्षित होता है। आधुनिक मानव अपने पूर्वजों की भाँति प्रकृति को 'अजेय' मानकर अपनी बेवसी का इजहार उसकी पूजा–प्रार्थना में नहीं करता। बल्कि एक 'विजेता–भाव' के साथ उसके रहस्यों को अपने उद्यम से उद्घाटित कर अपने हित में नियंत्रित करना चाहता है और प्रकृति–प्रदत्त अपनी नैसर्गिक सीमाओं का अतिक्रमण कर 'प्रकृति–पूजक' से 'प्रकृति–नियंत्रक' की अवस्था को प्राप्त करने की दिशा में संकल्पित भाव से अग्रसर है, जिसमें उसे सराहनीय सफलता भी प्राप्त हुई है। भोजन, वस्त्र, आवास, औद्योगीकरण, शिक्षा, स्वास्थ, यातायात, ऊर्जा–उत्पादन, संचार, अंतिरिक्ष–विज्ञान, भूगर्भ–विज्ञान, भौतिकी, रसायन, प्राणी–विज्ञान, गणित आदि क्षेत्रों में प्राप्त चमत्कारी सफलताओं के फलस्वरूप विभिन्न भूभागों के मानवों की सुख–सुविधाएँ बढ़ी हैं और वे एक–दूसरे को बेहतर ढंग से समझने लगे हैं, जिससे उनके बीच आपसी आदान–प्रदान में बढ़ोतरी हुई है।

निश्चित रूप से आधुनिक जगत् के मानव की दूरियाँ कम करने और उनकी बेहतरी के क्षेत्र में विज्ञान ने आधुनिक मानव को चमत्कृत कर दिया है। परिणामतः वैश्विक स्तर पर वैज्ञानिक चिंतन के युग का प्रादुर्भाव हुआ है जो नित–नूतन युगांतकारी वैज्ञानिक सफलताओं के साथ दृढ़तर होता जा रहा है और निश्चित रूप से दर्शन–शास्त्र भी इससे अछूता नहीं है।

किंतु इसके साथ ही उपयोगितावाद, उपभोक्तावाद और बाजारवाद से लेकर वैश्वीकरण की ओर मानवीय चिंतन के उन्मुखीकरण ने मानव द्वारा कालांतर के सुदीर्घ प्रयत्नों से सुस्थापित मूल्यों की अवधारणा पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया है। विज्ञान के गर्भ से प्रादुर्भूत 'इहलौकिकवाद' एवं परिसीमानात्मक सोच ने दर्शन की समग्रतावादी दृष्टि को भी संदेह के घेरे में डाल दिया है, जिसकी प्रतिध्वनि दिनानुदिन तीव्रतर होती जा रही है।

दर्शन और दार्शनिकों की वर्तमानकालिक भूमिका को निर्धारित करने के लिए इसकी पूर्व–भूमिका पर विचार कर लेना उचित होगा, क्योंकि विगत एवं आगत तो काल की एक अविच्छिन्न श्रृंखला है। दर्शन इतना बहुआयामी एवं नैसर्गिक रूप से चिंतनशील मानव के जीवन एवं चिंतनधारा की प्रारंभिक अवस्था से लेकर अध्यावधि इस प्रकार अवियोज्य रूप से संबद्ध है कि इसके स्वरूप को परिभाषित कर पाना एक दुष्कर कार्य है।[6] उदाहरणार्थ थेलीज (624 बी.सी.) के समकालीन सोलोन एवं कोएसस उस समय के सप्त दार्शनिकों में थे, जो महान् गणितज्ञ एवं खगोलविद् भी थे। स्वयं थेलीज 585 ई.पू. में होने वाले सूर्यग्रहण की सटीक भविष्यवाणी करनेवाले प्रख्यात खगोलशास्त्री भी थे। थेलीज के शिष्य प्रसिद्ध दार्शनिक एनेक्जीमेण्डर (611 ई.पू.–547 ई.पू.) खगोलशास्त्री एवं भूगोलवेत्ता भी थे। ग्रीक दार्शनिक एनेक्जीमेनीज (528 ई.पू.–524 ई.पू.) का भौतिकी विज्ञान में सुप्रसिद्ध योगदान था। उन्होंने सर्वप्रथम कहा था कि सभी प्रकार के द्रव्य अंततः एक ही हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक पाइथागोरस ज्यामितिशास्त्री भी थे, जिन्होंने यूक्लिड ज्यामिति के 47वें साध्य की स्थापना की थी। प्रसिद्ध इलियाई दार्शनिक जेनोफेन्स (576 ई.पू.) विकासवादी वैज्ञानिक भी थे, जिन्होंने प्रथमतः कहा था कि ग्रह, तारे, सूर्य आदि भौतिक पदार्थ हैं, दैवी पदार्थ नहीं। इसी युग के सुविख्यात दार्शनिक पारमेनीडीज (514 ई.पू.), जिन्हें प्रत्ययवाद का जनक कहा जाता है और जिनसे प्लेटो ने अपने प्रत्यय सिद्धांत की प्रेरणा ली थी, ने 'रिक्त–दिक्' (EmptySpace) के भौतिकी के सिद्धांत का खंडन किया था। सिसिली के महान् दार्शनिक एम्पेडोक्लस (435 ई.पू.) का विकासवाद के क्षेत्र में महान् योगदान था। महान् दार्शनिक ल्यूसिपस तथा डिमोक्राइट्स पाश्चात्य परमाणुवाद के जनक थे। सुविख्यात दार्शनिक एजेक्जीगोरस ने सर्वप्रथम यह

स्थापित किया था कि चंद्रमा मिट्टी का बना हुआ है और वह सूर्य से प्राप्त प्रकाश का परावर्तन करता है। उन्होंने ही सर्वप्रथम चंद्रमा के प्रकाश का कारण बताया था। साथ ही उन्होंने ही सर्वप्रथम पाश्चात्य दर्शन में जगत् के विकास में 'प्रयोजन' सिद्धांत का भी प्रतिपादन किया था। वे इतने महान् दार्शनिक थे जिनकी मुक्तकंठ प्रशंसा स्वयं अरस्तू ने की थी।[7] सोफिस्ट दार्शनिकों में प्रोटागोरस (480 ई.पू.—410 ई.पू.), जिन्होंने मानव को सभी वस्तुओं का केंद्र घोषित किया था, कहा था कि किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं है और ज्ञान असंभव एवं अवर्णनीय है। दार्शनिक हिप्पिअस इतिहास, गणित एवं भौतिकी के ज्ञाता थे। दार्शनिक प्रोडिकस व्याकरण के ज्ञाता थे। दार्शनिक जौर्जियस राजनीति शास्त्री भी थे। महान् दार्शनिक सुकरात (470 ई.पू.) महान् समाज सुधारक थे, जिसके कारण उन्हें अपने प्राणों की भी आहुति देनी पड़ी। सुकरात के महान् शिष्य प्लेटो (429 ई.पू.) महान् दार्शनिक के साथ—साथ उनका स्थान राजनीति विज्ञान, समाजशास्त्र एवं भौतिक विज्ञान में भी है। महान् ग्रीक दार्शनिक अरस्तू (384 ई.पू.) का महत्वपूर्ण योगदान दर्शन के अतिरिक्त भौतिक विज्ञान, जन्तु विज्ञान, खगोलशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि में भी है। तर्कशास्त्र और जंतुशास्त्र के संस्थापक होने का श्रेय भी अरस्तू को ही प्राप्त है। साइप्रस के स्टोइक दार्शनिक जेनो (342 ई.पू.—270 ई.पू.) भी तर्कशास्त्र, भौतिकी, नीतिशास्त्र में दिये गये महत्वपूर्ण योगदान के लिए सुविख्यात हैं। इसी काल के अतिमहत्वपूर्ण दार्शनिक एपिक्यूरस (342 ई.पू.) ने भौतिकी पर विशेष बल देते हुए विश्वातीत सत्ताओं का तीव्र खंडन किया एवं तत्कालीन रूढ़िवादी धार्मिक मान्यताओं पर आघात किया।[8]

मध्ययुगीन दर्शन पर धर्म की पकड़ दृढतर हो गयी और तत्कालीन संत—दार्शनिकों ने धार्मिक विश्वास के बौद्धिकरण या तर्कीकरण की दिशा में दर्शन को मोड़ दिया। संत पाल, जिन्हें ईसाई ईश्वरवादी दर्शन का संस्थापक होने का श्रेय प्राप्त है, से लेकर मार्टीर, टाटियन, एथनेगोरस, थियोफिलस, इरिनेयल (डी. 120—130), टर्टूलियन (160—240) साईप्रियन (200 —258), ओरिजेन (186—254)8, संत आगस्टाइन (353—430), संत एक्वीनस आदि मध्ययुगीन दार्शनिकों ने इस धर्म केन्द्रित परंपरा को जारी रखा।[9]

किन्तु 16वीं—17वीं शताब्दी में एक नवीन वैज्ञानिक युग का सूत्रपात हुआ। लियोनार्डो दा विन्सी (1452—1519), कोपर्निकस (1473—1543), गेलीलियो (1564—1641), केप्लर (1571—1630), न्यूटन (1642—1727), रोवर्ट बोआइल (1627—1691), गिरडोनाडो ब्रूनो (1548—1600) आदि के भौतिकी, रसायन विज्ञान, खगोल विज्ञान आदि युगान्तकारी वैज्ञानिक विचारों एवं अनुसंधानों ने मानव के जीवन को एक नई वैज्ञानिक दिशा दी, जिसका व्यापक प्रभाव दर्शन

पर भी पड़ा और इसके साथ ही दर्शन में आधुनिक युग का सूत्रपात हुआ। बाद में 19वीं एवं 20वीं शताब्दी के विकासवादी चिन्तकों जैसे हरबर्ट स्पेन्सर (1820—1902), हेनरी बर्गसों (1859—1941), सेमुएल एलेक्जाण्डर (1859—1938), ल्वायड मॉर्गन (1852—1936), लिनेयस (1707—1878), बुफन (1707—1788), इरास्मस डार्विन (1731— 1802)[10], लामार्क (1744—1829) और सुविख्यात विकासवादी चार्ल्स डार्विन, जिन्हें जीवशास्त्र का न्यूटन कहा गया है,[11] के चिंतन एवं आविष्कारों ने इस विचारधारा को परिपुष्ट किया। आइन्सटिन के सापेक्षतावाद ने आधुनिक विज्ञान को अतिशय सामर्थ्यवान किया है। किन्तु यह वैज्ञानिक क्रांति बहुत सहज नहीं थी। ब्रूनो को तो सात साल के कठोर कारावास के बाद जिंदा जला दिया गया और चर्च से इतर विचार रखनेवाले कोपर्निकस एवं डार्विन समेत सभी नव वैज्ञानिक चिंतन के संवाहकों को विभिन्न रूपों की प्रताड़नाएँ झेलनी पड़ी।

इसलिए 'आधुनिक पाश्चात्य दर्शन' विश्वास, परंपरा एवं वैचारिक जड़ता के विरुद्ध एक वैज्ञानिक तथा बौद्धिक स्वतंत्रता का उद्घोष था, जिसका दूरगामी प्रभाव दर्शन से लेकर राजनीति, समाज दर्शन, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, तत्वमीमांसा, विश्व विज्ञान, साहित्य, कला, संस्कृति आदि समस्त क्षेत्रों पर परिलक्षित हुआ। फ्रांसिस बेकन (1561—1626) ने वैज्ञानिक आधार पर आगमनात्मक विधि को स्थापित किया, जिसके आधार पर उनके अनुसार निश्चयात्मक, सर्वव्यापक एवं अनिवार्य ज्ञान की स्थापना संभव मानी गयी। थौमस हॉब्स (1588—1679) ने कोपर्निकस एवं गैलीलियो के वैज्ञानिक निष्कर्षों को स्वीकारते हुए गणित एवं ज्यामिति की विधियों को निश्चयात्मक एवं व्यापक ज्ञान का आधार माना। बेकन की तरह हॉब्स भी अनुभववादी थे।[12] इस युग के अनुभववादी दार्शनिकों में बेकन और हॉब्स के अतिरिक्त जौन लौक (1632—1704), जॉर्ज बर्कले (1685—1753) एवं डेविड ह्यूम (1711— 1776) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन्होंने मानव—ज्ञान को बुद्धि में पूर्वस्थित एवं अन्तर्निहित न मानकर इसे अनुभव द्वारा अर्जित माना।[13]

सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक एवं गणितज्ञ रेने देकार्त (1596—1650), जिन्हें आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के जनक होने का श्रेय प्राप्त है, ने दर्शन में गणित के तरह सुनिश्चित निष्कर्ष प्राप्त करने के लिए 'गणितिक विधि' की स्थापना की। इसी विधि के द्वारा इन्होंने अपना सुविख्यात सिद्धांत 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ' (*Cogito ergo sum*) प्राप्त किया, जिसके आधार पर उन्होंने गणितिक निष्कर्षों की तरह अपने दार्शनिक निष्कर्षों को स्थापित किया। वे निकोलस (1401—1414) एवं ब्रूनो (1540—1600) की तरह बुद्धिवादी थे। इन्होंने

जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धांत का निरूपण किया। बाद में प्रसिद्ध ज्यामितिज्ञ बेनेडिक्ट डी स्पिनोजा (1632–1677) ने दर्शन में ज्यामितिक विधि की स्थापना की तथा बुद्धिवाद–आधारित जन्मजात प्रत्ययों के सिद्धांत का समर्थन किया। महान् गणितज्ञ लाइवनिज (1646–1716) ने दर्शन में गवाक्षहीन आत्मपरिपूर्ण सत्ता 'मोनेडवाद' का प्रतिपादन कर बुद्धिवाद को चरम शिखर तक पहुँचाया। बाद में जर्मन दार्शनिक इमेनुअल काण्ट (1724–1804) ने अपने समीक्षात्मक दर्शन के द्वारा अनुभववाद एवं बुद्धिवाद का समन्वय करते हुए तात्विक ज्ञान को अज्ञात एवं अज्ञेय बना दिया और कहा कि मानव् ज्ञान प्रतिभासित जगत् तक ही सीमित है।

बाद में फिक्टे (1762–1814) ने काण्ट की तत्वमीमांसा का खंडन करते हुए वैयक्तिक स्वतंत्रता की अवधारणा पर बल दिया, जिसका विकास हिगेल (1770–1831) के द्वारा प्रतिवादित 'वाद', 'प्रतिवाद' एवं 'संवाद' के त्रिविध द्वन्द्वात्मक सिद्धांत में हुआ। शापेनहावर (1809–1860) ने काम्टे के दिक् और काल के विचार को परिमार्जित करते हुए 'इच्छा शक्ति' पर बल दिया। किंतु जर्मनी उग्र भौतिकवादी दार्शनिक कार्ल वोट (1817–1895), जोल्वी (1819–1873), मोलेशोट (1822–1893) एवं बुकनर (1824–1899) ने प्रत्ययवादी दर्शन का खंडन किया। इस प्रकार काण्ट और हिगेल के प्रभाव से मुक्त होते हुए दर्शन ने पुनः भौतिक विज्ञान एवं भौतिकवाद का दामन थाम लिया। एक बाद फिर दर्शन के तत्वमांसीय पक्ष पर ग्रहण–सा लग गया। किंतु यह ग्रहण चिरस्थायी नहीं रहा और लोट्‌जे (1817–1881), फेकनर (1801–1887), वूण्ट (1832–1920), यूकेन (1846–1926) जो अधिकतर विज्ञान से ही आये थे, ने पुनः दर्शन एवं खासकर तत्वमीमांसा की स्थापना का सफल प्रयास किया। अगस्ट कौम्टे (1798–1857) ने विज्ञान, तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र आदि के आधार पर दर्शन को पुनःस्थापित करने का प्रयास किया। स्मरणीय है कि इस समय तक मनोविज्ञान ने एक स्वतंत्र विज्ञान का दर्जा नहीं प्राप्त किया था। मिल (1773–1836) एवं बेंथम (1748–1832) ने 'अधिकतम के अधिकतम शुभ'' (Greatest good of the greatest number) के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए उपयोगितावाद को स्थापित करते हुए मूल्यों की एक नई परिभाषा गढ़ दी। किंतु प्रसिद्ध विकासवादी दार्शनिक हरबर्ट स्पेन्सर (1820–1903) ने दर्शन को समन्वयात्मक शास्त्र मानते हुए कहा कि इसी से भौतिकी, प्राणीविज्ञान, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र निगमित होते हैं और उन्होंने इस समन्वयात्मक शास्त्र दर्शन को ज्ञान की सभी शाखाओं का आधार घोषित किया।[14] पुनः इसी कालखंड के सुविख्यात दार्शनिक थौमस हिल ग्रीन (1836–1882) ने ह्यूम एवं मिल के अनुभववाद एवं स्पेन्सर के

विकासवाद की आलोचना करते हुए दर्शन की सभी विधाओं, विशेषकर तत्वमीमांसा की प्रासंगिकता को स्थापित किया। उन्होंने कहा कि मानव कोई प्राकृतिक पदार्थ नहीं है, बल्कि वह चेतन सत्ता है। तदनन्तर एफ. एच. ब्रेडले (1846–1924), जिन्हें आधुनिक दर्शन का 'जेनो' कहा जाता है[15] ने ''प्रतीति एवं यथार्थ'' की अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि एपीयरेंस एंड रियलिटी' में व्याख्या कर दर्शन एवं तत्वमीमांसा को व्यापक समर्थन दिया, जिसमें उन्हें जोयास (1855–1916) जैसे दार्शनिकों का भी समर्थन प्राप्त हुआ।

लगभग इसी कामक्रम में दर्शन में अस्तित्ववाद का प्रादुर्भाव सोरेन किर्किगार्ड (1813–1855) के दर्शन से हो चुका था जिन्हें समकालीन 'अस्तित्ववाद' का स्रोत[16] माना जाता है। उनके तीन प्रमुख विचार थे– सत्य, वैयक्तिक चयन और ईश्वर। बाद में मार्टिन हाइडेगर, कार्ल जास्पर्स, सार्त्र, मार्शल आदि ने अस्तित्ववादी दर्शन को विकसित किया जिसमें व्यक्तिगत अस्तित्व–बोध के महत्व को रेखांकित किया गया।

चार्ल्स एस0 पर्स (1839–1914), विलियम जेम्स (1842–1910), जौन डिवी (1859), शीलर आदि ने व्यवहारिकतावादी दर्शन की नींव डाली, जिसके अनुसार सत्यता का निर्णायक व्यावहारिकता है। प्रसिद्ध विकासवादी दार्शनिक हेनरी वर्सो (1859–1941) ने बुद्धि और अंतर्दृष्टि का विभेद करते हुए दर्शन और विज्ञान का इसे आधार माना। ब्रिटिश वस्तुवादी दार्शनिक जी.ई. मूर ने वस्तुवाद की स्थापना की, जिसे बाद में बट्रेण्ड रसेल (1872) ने विकसित किया। बाद में इसे ह्वाइटहेड (1861–1947) ने अपने ज्ञान–सिद्धांत में विकसित किया।

पाश्चात्य समकालीन दर्शन में तार्किक वास्तववाद एवं भाषा–विश्लेषण की स्थापना 20वीं शताब्दी में हुई। मॉरीज शिलक, औटो न्यूराथ, रुडोल्फ कारनेप, राइकेनवाक, ए.जी. एयर, ई. नेगेल, सी. डब्लू. मोरिस आदि इस विचारधार के प्रमुख दार्शनिक हैं। इन्होंने 'वियना सर्किल' की स्थापना की, जिसका प्रमुख उद्देश्य तत्व–मीमांसा की निरर्थकता सिद्ध कर विज्ञान के लिए आधारशिला तैयार करना था। इसके लिए इन्होंने 'भाषा के तार्किक विश्लेषण ' की पद्धति अपनायी। बाद में लुडिविग विट्गेन्सटाइन (1889–1951) अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ट्रेक्टेटस लौजिको फिलोसोफिकस' में तत्व मीमांसीय शब्दावलियों को निरर्थक सिद्ध करते हुए एक युगांतकारी 'भाषा–दर्शन' की स्थापना की।

कार्ल मार्क्स के द्वारा निरूपित साम्यवादी, भौतिकवादी, अतिरिक्त–अर्घ्य, सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद की अवधारणाओं ने दर्शन को एक नयी दिशा दी, जिसे एंजिल्स, लेनिन आदि साम्यवादी दार्शनिकों ने सुदृढ़ आधार प्रदान किया। इसी बीच प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र भी अस्तित्व में आया जिसके द्वारा परंपरावादी

तर्कशास्त्र को गणितिक एवं वैज्ञानिक आधार प्रदान किया गया। मनोविज्ञान ने भी अन्य विज्ञानों की तरह दर्शन से पृथक होकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम किया और फ्रायड की मनोविश्लेषणात्मक पद्धति एवं 'काम' की नवव्याख्या ने दर्शन में नये चिंतन को दिशा दी, जिसे बाद में युंग, एडलर आदि ने संशोधित एवं परिवर्धित किया।

यह अविवादित है कि भारतीय दर्शन का मूलाधार 'वेद' मानव को उपलब्ध प्राचीनतम रहस्यमय ज्ञान सामग्री है, जिसकी कालावधि का आकलन अनिश्चितताओं से परिपूर्ण है[17] कि इसे बहुधा 'कालातीत', 'अपौरुषेय' आदि कहा जाता है। यह तथ्य भी स्वीकार्य है कि समस्त आध्यात्मिक, भौतिक, नैतिक, ज्ञान–मीमांसीय ज्ञान का आधार भी वेद ही है। वेदों की 'एक' से 'अनेक' की परिकल्पना[18], प्रकृति का देवत्वीकरण, ज्ञानपिपासा, मानवीय मूल्यों की अवधारणा, इहलौकिक समृद्धि एवं पारलौकिक मोक्ष की धारणा, नगण्य अपवादों को छोड़कर, संपूर्ण भारतीय दर्शन का आदर्श रहा है। उपनिषदों के ज्ञानात्मक स्वरूप एवं षड्दर्शन की तर्कीकृत व्याख्याएँ इसी वैदिक स्थापनाओं पर आधारित हैं। न्याय का ज्ञानात्मक एवं तर्कप्रधान स्वरूप, वैशेषिक का परमाणुवाद, सांख्य का द्वैतवादी विकासवाद, योग का ईश्वरवादी समत्ववाद, मीमांसा का कर्मवाद एवं वेदांत का एकत्ववादी ब्रह्मवाद इसी वैदिक–उपनिषदिक दर्शन पर आधारित है। इतना ही नहीं, जैन एवं बौद्ध जैसे अवैदिक श्रमण दर्शन एवं उग्र भौतिकवादी चार्वाक दर्शन की जड़ें भी वेद एवं उपनिषदों में अवस्थित हैं।[19] *भगवद्‌गीता*, 18 पुराणों एवं महाकाव्यों में भी इसी वैदिक दर्शन की अनुगुंज ध्वनित होती है। परवर्त्ती शैव, शाक्त, वैष्णव, तांत्रिक आदि दार्शनिक परंपराएँ भी इन्हीं से विकसित हैं। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि वेद–आधारित इन दर्शनों का निजी अस्तित्व नहीं है। यथार्थतः भारतीय दर्शन के विकास में इन सभी दार्शनिक परंपराओं का महत्वपूर्ण स्थान है। भारत में दर्शन बौद्धिक–विलास न होकर जीवन–दर्शन रहा है, जिसमें सभी प्रकार के ज्ञान, तत्व ज्ञान, नीति, विज्ञान, तर्कशास्त्र, भाषा दर्शन, सौन्दर्य शास्त्र, कला, संस्कृति, धर्म, राजनीति, अर्थनीति, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान के तत्व एक ही आधार से निकलकर आपस में सुसम्बद्ध रहे हैं। किन्तु उनसे सदा वाद, प्रतिवाद एवं सम्वाद का क्रम चलता रहा है, जिसने इसकी विभिन्न वैचारिक परंपराओं और मत–मतान्तरों को संपोषित किया है, जिसे बाद के आधुनिक एवं समकालीन दार्शनिकों ने भी समुन्नत किया है।

किन्तु वैदिक ज्ञान की कुंजी आर्ष व्याकरण के अनुपलब्ध होने के कारण इसका यथार्थज्ञान रहस्य के धुंधलके में आ गया।[20] प्राथमिक स्रोत के निहितार्थ

का अज्ञान, साथ ही गुलामों के प्रति हीनदृष्टि एवं पूर्वाग्रहों के कारण कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय दर्शन को केवल 'मिथक' मानकर इसे दर्शन का दर्जा देने से परहेज किया है।[21] किन्तु भारतीय उदात्त परंपरा में इन्हें क्षमा कर देना चाहिये, क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कह रहे हैं [22], और उन भारतीयों को भी, जो इनके द्वारा किये गये छिछले अनुवादों से ज्ञान (अज्ञान ?) प्राप्त कर अपनी कोख को ही अभिशप्त करते हैं। यथार्थतः इसी महान् परंपरा के आलोक में भारत में राष्ट्रवाद पनपा, गुलामी की बेड़ियाँ टूटी और राजा राममोहन राय (1774–1833), स्वामी दयानंद (1824–1883), स्वामी रामकृष्ण परमहंस (1836–1886), विवेकानंद (1862–1902), रवीन्द्रनाथ टैगोर (1861–1941), के. सी. भट्टाचार्य (1875–1949), महर्षि अरविंद (1872–1950), एस. राधाकृष्णन् (1808), महात्मा गाँधी (1869–1948), सुफी दार्शनिक मोहम्मद इकबाल (1876–1938), प्रभृति समकालीन दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन को सम्वर्धित करते हुए विश्व में इसकी प्रासंगिकता सिद्ध किया है, जो आज भी जारी है।[23]

इस प्रकार दार्शनिक विकास–यात्रा के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि दर्शन एवं दार्शनिक मानवीय–चिंतन के विकास के साथ अवियोज्य रूप से संबद्ध हैं और दैशिक एवं कालिक आवश्यकताओं के अनुरूप यह अपने को अभियोजित करते हुए कालांतर से अविराम एवं अविच्छिन्न क्रम में आज भी पूरी प्रासंगिकता के साथ अपना अस्तित्व दृढ़ता के साथ बनाये हुए है और मानव–ज्ञान की समस्त विधाओं को दिशा–निर्देशित करता आया है। प्लेटो ने कहा था कि दार्शनिक सभी काल एवं अस्तित्व या देश का द्रष्टा होता है।[24] मानव की यही नैसर्गिक चिंतनशीलता एवं बौद्धिक ज्ञान–पिपासा दर्शन की चिरन्तन जिजीविषा का कारक है। ब्रह्मांड की रहस्यात्मक अनंतता और मानव की अपनी अपूर्णता उसके लिए सदा एक चुनौती होती है, जिसका वह सार्वकालिक समाधान चाहता है। इसी क्रम में वह अपनी बुद्धि एवं अपने विवेक के प्रयोग से जीवन और जगत् की व्याख्या करता है।

इसी अनंत एवं सर्वसमावेशी जिज्ञासा के क्रम में परा एवं अपरा विद्यायें जैसे तत्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, नीतिशास्त्र, विश्व–विज्ञान आदि दार्शनिक प्रशाखाओं के साथ ज्ञान–विज्ञान की विभिन्न शाखायें–प्रशाखायें जैसे भौतिक विज्ञान एवं उसकी विभिन्न शाखायें, समाज शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, कला, साहित्य, संस्कृति आदि जन्म ग्रहण करते हैं और काफी समय दर्शन के पालने में संपोषित होकर और उसकी उँगली के सहारे चलना सीख कर सयाना होकर अपना घर बसाते हैं।[25] प्रायः इसीलिए दर्शन को सभी ज्ञान–विज्ञान का जन्मदाता माना जाता है।

दर्शन और विज्ञान के अंतर्सम्बंधों का सम्यक् ज्ञान नहीं होने के कारण कतिपय लोग इस वैज्ञानिक एवं तकनीकी काल में दर्शन की प्रासंगिकता का सवाल अज्ञानवश उठाते हैं। वे यह नहीं जानते विज्ञान के लिए दर्शन अत्यावश्यक है। विज्ञान क्षेत्र विशेष में निरीक्षण एवं प्रयोग–आधारित ज्ञान प्राप्त करता है, जो आगमनात्मक विधि से कार्यकारण सिद्धांत एवं प्रकृति समरूपता नियम पर विश्वास के द्वारा सार्वभौमिक नियम का रूप धारण करता है। दर्शन इस 'आगमनात्मक छलांग' में प्रयुक्त कार्यकारण नियम एवं प्रकृति–समरूपता नियम की व्याख्या कभी वेद स्थापित 'ऋत सिद्धांत' तो कभी सांख्य प्रतिपादित 'सत्कार्यवाद' एवं 'प्रकृति परिणामवाद', 'साम्यावस्था', 'गुणक्षोभ' एवं 'विकासवाद' से करता है, कभी शंकर के 'ब्रह्म–परिमाणवाद' से करता है तो कभी अरस्तू एवं मिल द्वारा प्रतिपादित एवं ह्यूम द्वारा खंडित कारणतावादी दर्शन से करता है। ऐसे अनेकानेक क्षेत्र हैं जहाँ दर्शन विज्ञान को सहारा देता है। इसीलिए यह ठीक ही कहा गया है कि जहाँ विज्ञान का अंत होता है, वहाँ से दर्शन प्रारंभ होता है।

कुछ लोग यह भी आक्षेप करते हैं कि दर्शन की दृष्टियाँ अनेक एवं परस्पर–विरोधी होने के कारण आज के वैज्ञानिक युग के लिए निश्चयात्मक ज्ञान देने में असमर्थ हैं। किन्तु यह बात तो विज्ञान के साथ भी लागू है। विज्ञान की मान्यताएँ भी सार्वकालिक नहीं होतीं। टोलेमी का 1600 वर्षों तक चलने वाला सिद्धांत कोपर्निकस के अनुसंधान से धराशायी हो जाता है। आज न्यूटन एवं डार्विन के सिद्धांतों पर भी उँगलियाँ उठनी शुरू हो गयी हैं। यह तो मानव–ज्ञान की अपूर्णता का परिचायक है, जो दर्शन के साथ–साथ विज्ञान पर भी लागू है।

ब्रह्मांड की विशालता इतनी है कि गणितिक गणनाओं के द्वारा उसका आकलन कर पाना दुःसाध्य कार्य है। पृथ्वी हमारी नीहारिका में एक नगण्य सा ग्रह है। हमारी आकाश गंगा, जिसका लघु परिवार हमारा सौर–मंडल भी है, का व्यास 100,000 प्रकाश–वर्ष है। ज्ञातव्य है कि एक प्रकाश वर्ष 6 मीलियन वर्ष का होता है और ऐसी असंख्य आकाश गंगाएँ ब्रह्मांड में स्थित हैं, जिन्हें आधुनिक वैज्ञानिक–मान्यता प्राप्त है। इसलिए केवल निरीक्षण एवं प्रयोग से इसे जानने का प्रयास करना हिमालय को एक पिन से खोदने से भी कम है। इस तरह ब्रह्मांड का ज्ञान विज्ञान नहीं, दर्शनशास्त्र के संपूर्णतावादी चिंतन से ही संभव है। भौतिक विज्ञान उस चिंतन के अत्यधिक लघु अंश को सत्यापित करने का प्रयत्न करता है। इस तरह यह कहना ठीक ही है कि दार्शनिक ज्ञान की सीमा वहाँ तक है जिसके आगे कोई राह ही नहीं है।

व्यावहारिक जगत् में दर्शन ही विज्ञान समेत ज्ञान के समस्त क्षेत्रों को समन्वित कर मानव–जीवन को दिशा प्रदान करता है। आज वैश्विक विनाश के

खतरों, विश्व शांति का संकट, धार्मिक उन्माद, आतंकवाद, पर्यावरण प्रदूषण, प्रास्थिति संकट, मानवाधिकार संरक्षण, गरीबी उन्मूलन, धार्मिक सद्भाव, सहअस्तित्व, नैतिक अवमूल्यन, स्वत्रंता, समानता, न्याय आदि समस्याओं का समाधान दर्शन और दार्शनिक ही कर सकते हैं और सभी प्रकार के संकटों के निवारण का चिंतन स्थापित कर मानव–जीवन को दीर्घजीवी बना सकते हैं, विज्ञान नहीं। डुरेन्ट ड्रेक ने कहा है कि दर्शन समस्त ज्ञान का समष्टीकरण एवं सभी विज्ञानों का समन्वय है।

इस प्रकार उपरोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि विज्ञान दर्शन का ही प्रयोगात्मक रूप है। किंतु दुर्भाग्य यह है कि इस बात को न तो आधुनिक युग के विज्ञान के उत्तराधिकारी समझ पाते हैं और न दार्शनिक ही विज्ञान के 'अभिभावकत्व' के अपने उत्तरदायित्व को गंभीरता से ले पाते हैं, जिसका परिणाम बड़ा ही दुःखद एवं भयावह होता है। आधुनिक युग में कहीं से दर्शन और विज्ञान का सामंजस्य टूटता हुआ प्रतीत होता है। दार्शनिक अपने वैचारिक कल्पनालोक में ही अवस्थित रहकर विज्ञान के मार्गदर्शन की अपनी भूमिका की अपनी जिम्मेवारी का बोझ नहीं लेना चाहते। तत्वमीमांसीय चिंतन से लेकर ज्ञानमीमांसा, नीतिशास्त्र, भाषा–विश्लेषण आदि में ही आज के भी दार्शनिकों का अधिकांश कार्यकलाप संचारित है जिसके कारण इस वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकी के युग की चुनौतियाँ मानव–समाज को एक गंभीर मनःस्थिति में पहुँचाता हुआ दिख रहा है। मानव–समाज विज्ञान की इस अतिद्रुतगामी गति से कदम मिलाकर चलने में आज असमर्थ प्रतीत हो रहा है। समाजनीति भी विज्ञान की प्रतिक्षण तीव्रतर हो रही गति से तालमेल नहीं रख पा रही है। हमारे दार्शनिकों ने कभी 'वसुधैव कुटुम्बकम' और 'सर्वलोक हिते रताः' का उद्घोष किया था। किंतु आज धरती पर खाद्याभाव होते हुए भी अनाज जलाया जाता है। एक ओर इतनी प्रचुरता है कि उसे कहाँ समाया जाए इसकी समस्या है, तो दूसरी ओर इतना अभाव कि मानवता उसे देखकर शर्मसार हो जाए। आज संपन्न राष्ट्र विज्ञान और तकनीक के प्रयोग से चाँद, मंगल और अन्य ग्रहों पर चलाये जा रहे अपने अभियानों पर इतना खर्च कर रहे हैं जिससे दुनिया के तमाम भूखों का पेट भरा जा सकता है, तो दूसरी ओर इस वैज्ञानिकी तकनीकी दबाव के कारण अपने को प्रासंगिक सिद्ध करने के लिए छोटे और अभावग्रस्त राष्ट्र भी अपनी जनता की भूख, बेरोजगारी, अशिक्षा आदि मौलिक समस्याओं की अनदेखी कर उसी क्षेत्र में उनका अनुसरण कर रहे हैं। दुर्भाग्य से आज भी शस्त्रों, विशेषकर विनाशकारी हथियारों को अर्जित करने की होड़ लगी हुई है। लगता है न तो विज्ञान ने और न मानव–समाज के नियंताओं ने द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जापान के हिरोशिमा

और नागाशाकी पर गिराए गए परमाणु बमों की विनाशलीला से कोई सबक ली है। हम ऊँची–ऊँची बातें करते हैं, पर हमने कभी भी सोचने का यह यत्न नहीं किया कि धरती पर रहनेवाले मानवों की मूल समस्याओं की अनदेखी कर हम अंतरिक्ष में क्यों भटक रहे हैं? हम क्यों नहीं अपने पर्यावरण और प्रास्थतिकी के संतुलन को बनाए रखने के लिए वैश्विक, राष्ट्रीय और अन्य मंचों पर भाषण देने के अलावे कृतसंकल्प होकर इस दिशा में कुछ कर पाते और 'प्रकृति–विजेता' बनने के अति उत्साह में आधुनिक युग की विज्ञानवादी इहलौकिक दृष्टि एवं विकास के नाम पर धरती और उसके पर्यावरण का विनाश कर अपनी कब्र खुद खोदने पर क्यों आमदा हैं ? राजनीतिक क्षेत्र में 24 अक्टूबर 1945 को विश्व–समुदाय ने संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की और लगभग तीन वर्षों के गहन विचार–विमर्श के बाद मानवाधिकार के तीस सूत्री वैश्विक उद्‌घोषणा की।[26] इसके प्रथम अनुच्छेद में ही यह संकल्पना ली गयी कि प्रत्येक मानव जन्मजात रूप से समान है और ससम्मान जीना उसका नैसर्गिक अधिकार है। अन्य अनुच्छेदों में स्वतंत्रता, समानता, जीवन, सुरक्षा, दासता से मुक्ति, न्याय पाने का अधिकार, विचार स्वतंत्रता का अधिकार, सामाजिक सुरक्षा पाने का अधिकार, काम पाने का अधिकार आदि सन्निहित किया गया। किंतु क्या मानवाधिकार की परिकल्पना किताबों से निकलकर जमीन पर आ पायी? आये दिन मानवाधिकार–हनन की शर्मनाक घटनाएँ समाचार–पत्रों की सुर्खियाँ बनती हैं। अंतर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय, प्रांतीय से लेकर ग्रामीण स्तर तक धन, बल और बाहुबल से संपन्न लोग आज भी अपने से कमजोर को लीलने के लिए उसी प्रकार आमादा हैं, जिस प्रकार 'मत्स्य न्याय' चलता है, जहाँ हर बड़ी मछली छोटी मछली को निगलती रहती है फिर भी उसका पेट नहीं भरता।

आर्थिक क्षेत्र में विषमता की खाई दिन–ब–दिन चौड़ी होती जा रही है। दुनियाँ में आज भी करोड़ों आदमियों के लिए दो जून का भोजन, तन ढंकना और आवास एक विकट समस्या है। भूखमरी की शर्मनाक घटनाएँ इस आधुनिक युग में आज भी जारी हैं। सामाजिक क्षेत्र में गैर–बराबरी दूर करना आज भी एक सपना जैसा लगता है। इसका असर शिक्षा पर भी पड़ता है। आर्थिक रूप से अति कमजोर लोगों के बच्चों का बचपन छीन लिया जाता है। आज भी दुनियाँ में 25 करोड़ बच्चे खतरनाक उद्योगों में काम कर रहे हैं और हमारे भारत में इनकी संख्या 2.5 करोड़ है। आधुनिक विज्ञान से उत्पन्न दृष्टि ने मानव को 'व्यक्ति' से 'वस्तु' बना दिया है। यौन क्षेत्र, नशीले पदार्थों की तस्करी, हथियारों की तस्करी, यहाँ तक 'मानव बम' बनाने के लिए बच्चों की खरीद–फरोख्त जारी है। भ्रष्टाचार हमारा आचार बन गया है और धर्म (पंथ) का उपयोग समाज में नफरत, द्वेष फैलाकर उसे बांटने के

लिए किया जा रहा है, जिससे राजनीति के ठेकेदार उस तवे पर अपनी रोटी सेंक सकें। आधुनिक वैज्ञानिक युग के मानव की व्यथा–कथा का विवरण इस लघु निबंध में दे पाना संभव नहीं है, ये तो मात्र उदाहरणार्थ प्रसंग मात्र है।

आधुनिक युग की इन चुनौतियों का सामना करना और इन समस्याओं का निदान ढूँढ़ना मानव मात्र के अस्तित्व के लिए अत्यावश्यक है। किसी भी युग की परिवर्तित जीवन–प्रणाली तथा मानसिक दृष्टिकोण से सामंजस्य रखकर जब भी सामाजिक, राष्ट्रीय, राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन लाने में अधिक विलंब हुआ है, तभी सभ्यता के संकट के काल का आविर्भाव होता है। वर्तमान युग भी इसी प्रकार के एक संकट का सामना कर हताशापूर्ण स्थिति में आता हुआ प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि आधुनिक युग का मानव–समाज विज्ञान की अतिद्रुतगामी गति से कदम मिलाकर चलने में समर्थ नहीं हो पा रहा है। राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था भी आधुनिक विज्ञान की इस तीव्रगति के साथ अपने को अभियोजित नहीं कर पा रही है। 'ब्रिटिश एसोसिएशन फोर दि एडवांसमेंट ऑफ साइंस' के आयोजित अधिवेशन में बिशप ऑफ रिपन ने कहा था 'क्या मैं अपने श्रोताओं में से कुछ एक के द्वारा 'लिच' किए जाने का खतरा उठाते हुए यह सुझाव देने का साहस कर सकता हूँ कि यदि दस वर्ष के लिए प्रत्येक भौतिक और रासायनिक प्रयोगशालाओं को बंद कर दिया जाए और उनमें जो धैर्य तथा साधन संपन्न शक्ति के साथ मिलकर चलने को खोई हुआ कला को पुनः प्राप्त करने में और मानव जीवन के पलड़ों में दोनों छोरों को कोई सूत्र को गढ़ने के काम में लगाया जाए तो वैज्ञानिक मंडलियों में कोई सुख की कमी नहीं आएगी।'[27]

किंतु विचार कर देखने पर यह टिप्पणी कुछ अतिवादी प्रतीत होती है, क्योंकि समाज के लिए विज्ञान की आवश्यकता को खारिज नहीं किया जा सकता। तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या, खाद्याभाव की उत्पन्न समस्या के समाधान के लिए कृषि उत्पादन में वृद्धि की आवश्यकता है, जिस दिशा में विज्ञान की विशेष चेष्टा की जरूरी है।

पारंपरिक ऊर्जा के स्रोतों को उत्पन्न करने के लिए भूगर्भ की खनिज संपदा की हो रही समाप्ति का विकल्प ढूँढ़ने के लिए भी विज्ञान की आवश्यकता है। हिम युग में बर्फ के प्रसार के कारण मानव और जीव जगत् को जिस दुर्घटना का सामना करना पड़ा था, ऊर्जा के अभाव में आधुनिक यांत्रिक युग के मानव को अधिक व्यापक संघर्ष के लिए तैयार रहना पड़ेगा। इसलिए वैज्ञानिक कार्य–तत्परता में विराम की बात करना उचित नहीं प्रतीत होता।

आज आवश्यकता इस बात की है कि विज्ञान की बदौलत मानव जिस अमित शक्ति का अधिकारी बना है, उसके दुरुपयोग से जो समस्यायें उत्पन्न हो

रही हैं उनकी रोकथाम करने का सार्थक प्रयास करना। निश्चित रूप से इस महती भूमिका को आधुनिक युग के दर्शन और दार्शनिकों को ही लेना पड़ेगा। विज्ञान का स्वरूप तो यांत्रिक होता है और निश्चित रूप से यंत्र को आंखें नहीं होतीं, न विवेक ही होता है। उसका बागडोर या नियंत्रण किसी दूसरे हाथों में होता है और दर्शन एवं दार्शनिक को विज्ञान की बागडोर या नियंत्रक बनने की भूमिका ग्रहण करना पड़ेगा। नित्य क्षरित हो रहे नैतिक–मूल्यों को पूर्णस्थापित कर दर्शन और दार्शनिकों को विज्ञान का निदेशन करना पड़ेगा तभी विज्ञान का मानवहित में सदुपयोग संभव हो पाएगा और दर्शन–नियंत्रित एक कल्याणकारी नव–वैज्ञानिक युग का सूत्रपात होगा।

प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष
दर्शनशास्त्र विभाग (स्नातकोत्तर केन्द्र)
राजनारायण कॉलेज, हाजीपुर
बी. आर. ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

संदर्भ–सूची

1. *जी.टी. डब्लू. पैट्रिक – इन्ट्रोडक्शन टू फिलोसोफी (संशोधित संस्करण, जार्ज एलेन एण्ड अनविन, लंदन, 1952, पृ.–1)*
2. *स्टेवार्ड ई. इस्टन, रोजर बकन एंड हिज सर्च फॉर यूनिवर्सल साइंस, ऑक्सफोर्ड, 1952*
3. *ए.एन. हवाइटहेड, साइंस एण्ड मोडर्न वर्ल्ड, कैंब्रिज, 1927*
4. *एच.जी. रेण्डल, दि क्रिएटिव सेन्चुरीज, लंदन, 1945*
5. *जे.जी. क्रोथर, दि सोसल रिलेशन ऑफ दि साइंस, मैकमिलन, 1941, पृ.–1*
6. *डब्लू.टी. स्टेस, ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ ग्रीक फिलोसिफी, मैकमिलन एंड कंपनी, लंदन, 1960, पृ. -- 1*
7. *वही, पृ. – 104*
8. *फैंक थिल्ली, हिस्ट्री ऑफ फिलोसोफी, पृ. – 167*
9. *वही, पृ. – 181*
10. *चार्ल्स डार्विन के पितामह*
11. *जूलियन हक्सले, व्हाट डार्विन सेड, पृ. – 3*
    देखें चार्ल्स डार्विन, दि ओरिजन ऑफ स्पेसीज बाई नेचुरल सेलेक्शन, 1859, दि डिसेंट ऑफ मेन, सेलेक्शन इन रिलेशन टू सेक्स, 1871
12. *फेंक थिल्ली, ए हिस्ट्री ऑफ माडर्न फिलोसोफी, द्वितीय संस्करण, पृ. – 293–294*
13. *रिचार्ड फॉल्केनवर्ग, हिस्ट्री ऑफ माडर्न फिलोसोफी, द्वितीय संस्करण, 1960, पृ. -- 81*

14. वही, पृ. – 563–64
15. वही, पृ. – 580–81
16. फ्रैंक थिल्ली, ए हिस्ट्री ऑफ फिलोसोफी, पृ. – 578–579
17. लेखक का अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के 43वें अधिवेशन में वैदिक दर्शन विभागाध्यक्षीय भाषणद्ध दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष–45, जन.–जून–1999, पृ.–25–35 (वैदिक दर्शन : एक अनुशीलन)
18. ऋग्वेद – I.164
19. डॉ. एस. राधाकृष्णन्, इंडियन फिलोसोफी ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, सेंटनरी एडीशन, खंड–1, पृ.–277
20. श्री अरविन्द – वेद रहस्य (हिंदी अनुवाद), पृ.–7
21. फ्रेंक थिल्ली, ए हिस्ट्री ऑफ फिलोसोफी, पृ.–3
22. लेखक का प्रकाशित विभागाध्यक्षीय भाषण– प्लेस ऑफ इंडियन थौट इन दि हिस्ट्री ऑफ फिलोसोफी, इंडियन फिलोसोफी कांग्रेस–74वाँ अधिवेशन।
23. लेखक का प्रकाशित आलेख – फिलोसोफी इन इंडिया सिन्स इंडिपेंडेंस : इन रिट्रोस्पेक्ट एंड प्रोसपेक्ट, जर्नल ऑफ बिहार फिलोसोफिकल रिसर्च, 2004 (संयुक्त सं.), पृ.–65
24. प्लेटो, रिपब्लिक, 4, पृ.–486
25. वी. फर्म, फर्स्ट एडवेन्चर इन फिलोसोफी, पृ. – 4
26. संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा 10 दिसंबर 1948 को मानवाधिकार की 30 सूत्री वैश्विक उदघोषणा
27. जे.डी. वर्नल, दि सोसल फंक्शन ऑफ साइंस, पृ. – 7

PAPERS OF J.I.C.P.R.
Volume- XXIV (3&4)

Editor
Prof. Godabarisha Mishra
Member Secretary,
Indian Council of Philosophical Research

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

दार्शनिक-त्रैमासिक के आलेखों की सूची–II

क्र.	नाम	लेख का शीर्षक	वर्ष	अंक	पृ.सं.
1.	डॉ. वेदप्रकाश वर्मा	राय का मानवतावादी दर्शन	1981	1	1
2.	डॉ. राजेन्द्रप्रसाद पाण्डेय	दर्शन, समाज और प्रगति	1981	1	12
3.	डॉ. जे. फाइस	रहस्यवाद और दर्शन का पारस्परिक सम्बन्ध	1981	1	22
4.	डॉ. डी.डी. बन्दिष्टे	'बहुसाधनवाद': एक परीक्षण	1981	1	38
5.	डॉ. चन्द्रनारायण मिश्र	नागार्जुन का राजदर्शन	1981	1	42
6.	सुश्री वसुन्धरा हर्डीकर	भारतीय चिन्तन का ध्रुवीकरण : निर्वाण के सन्दर्भ में	1981	1	48
7.	डॉ. (कु.) गीतारानी अग्रवाल	धर्मशास्त्रों में समाजदर्शन की अन्तर्दृष्टि	1981	1	53
8.	डॉ. रामजी सिंह	जीवन और दर्शन	1981	2	1
9.	डॉ. रघुनाथ गिरि	राजयोग एवं क्रिया योग	1981	2	10
10.	डॉ. सागरमल जैन	सत्ता कितनी वाच्य कितनी अवाच्य? जैन दर्शन के सन्दर्भ में	1981	2	31
11.	डॉ. डी.डी. बंदिष्टे	ईश्वर साक्षात्कार का दार्शनिक परीक्षण	1981	2	42
12.	डॉ. लक्ष्मण प्रसाद मिश्र	शांकर वेदान्त में 'विषयता'	1981	2	52
13.	डॉ. रमेशचन्द्र	'तत्व संग्रह' में शब्दार्थ–परीक्षा: नैयायिक दृष्टि	1981	3–4	1
14.	कु. माया दास	न्याय–वैशेषिक एवं पूर्वमीमांसा दर्शनों की दृष्टि में प्रवृत्ति	1981	3–4	13
15.	डॉ. यच.यन. मिश्र	मानव का स्वरूप– कार्ल जैस्पर्स	1981	3–4	28
16.	डॉ. बृजकिशोर पाण्डेय	आचार्य समन्तभद्र का सापेक्ष –निरपेक्ष सिद्धान्त	1981	3–4	35
17.	आशा दूबे	एथनोमैथोडोलॉजी का दर्शन में महत्त्व	1981	3–4	45
18.	रामेश्वर प्रसाद वर्मा	प्रतीत्यसमुत्पाद– कारणता का बौद्ध सिद्धान्त	1981	3–4	50
19.	डॉ. उमेशचन्द्र दूबे	अरविन्द दर्शन में अशुभ की समस्या	1981	3–4	56
20.	आद्यादत्त अवस्थी	मानव–संस्कृति	1981	3–4	66

21.	डॉ. कृष्णवल्लभ जोशी	साहित्य और दर्शन : सम्बन्ध और स्वरूप	1981	3–4	73
22.	डॉ. अभेदानन्द	न्याय दर्शन का प्रथम सूत्र	1982	1	1
23.	डॉ. रा.स. भटनागर	संशोधनीय ज्ञान एवं विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक का भेद	1982	1	10
24.	डॉ. विनोद शंकर	ज्ञान की सीमाएं	1982	1	17
25.	डॉ. चन्द्रिका चौबे	वेदान्त परिभाषा में स्वतः प्रामाण्य	1982	1	26
26.	डॉ. (कु.) अनिल तनेजा	भावना विवेक	1982	1	35
27.	डॉ. मृत्युंजय नारायण सिंह	महात्मा बुद्ध का अनीश्वरवाद	1982	1	43
28.	डॉ. मधुसूदन प्रसाद	हाइडेगर का ईश्वर–दर्शन	1982	1	47
29.	डॉ. विनयानन्द दास	ब्रेडले, शंकराचार्य एवं रामकृष्ण के दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन	1982	1	51
30.	डॉ. जगदीश सहाय श्रीवास्तव	सामान्य तर्क वाक्य	1982	1	64
31.	डॉ. बृजकिशोर प्रसाद	सार्त्र के दर्शन में 'चेतना'	1982	2–3	1
32.	डॉ. धमेन्द्र गोयल	धार्मिक परम्पराएं एवं मानववादी नैतिकता	1982	2–3	8
33.	प्रो. रमेश महीपतराम दवे	श्री स्वामिनारायण का नव्य विशिष्टाद्वैत वेदान्त एवं माया –प्रकृति की संकल्पना	1982	2–3	22
34.	डॉ. के.पी. वर्मा	विषयता	1982	2–3	31
35.	डॉ. जयेन्द्र प्र. जे.शुक्ल	विषयिता–विषयता	1982	2–3	38
36.	डॉ. रेवतीरमण पाण्डेय	विषयता	1982	2–3	44
37.	प्रो. एस.के. सिंह	दार्शनिक का दायित्व	1982	2–3	51
38.	प्रो. आर.पी. वर्मा	––"––	1982	2–3	58
39.	डॉ. रामानन्द मिश्र	––"––	1982	2–3	63
40.	डॉ.एस.एन. पाण्डेय	––"––	1982	2–3	70
41.	डॉ. विजय कु. भारद्वाज	प्रमाण और सैद्धान्तिक मतभेद	1983	1–2	1
42.	डॉ. गोरखनाथ मिश्र	अनुमान और आपादन	1983	1–2	10
43.	डॉ. महेश भारतीय	परिवर्तन का स्वरूप तथा सांख्य परिणामवाद	1983	1–2	25
44.	डॉ. रेवतीरमण पाण्डेय	विवर्तवाद : एक संक्षिप्त परिशीलन	1983	1–2	30
45.	डॉ. रामनाथ शर्मा	भारतीय जीवन एवं शिक्षा	1983	1–2	35
46.	श्री चन्द्रप्रकाश श्रीवास्तव	अस्तित्ववादी चिन्तन में विज्ञान एवं दर्शन का स्वरूप	1983	1–2	45

47.	डॉ. गायत्री सिन्हा	रॉयस के दर्शन में आत्मतत्त्व –विवेचन	1983	1–2	54
48.	डॉ. सुश्री भगवती	आत्म और अनात्म	1983	1–2	69
49.	डॉ. श्यामारमण पाण्डेय	कालिदास के साहित्य में ईश्वरतत्त्व	1983	1–2	75
50.	डॉ. दिवाकर पाण्डेय	बौद्ध मानवतावाद	1983	1–2	88
51.	पाण्डेय रामदास 'गंभीर'	शक्ति : स्वरूप अर्जन एवं लक्ष्य	1983	3–4	1
52.	डॉ. भगवन्त सिंह	जैन दर्शन एवं अद्वैत वेदान्त	1983	3–4	13
53.	डॉ. सागरमल जैन	जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में नैतिक और धार्मिक कर्तव्यता का स्वरूप	1983	3–4	20
54.	डॉ. विभा रानी दुबे	रसो वै स :	1983	3–4	25
55.	हरि सिंह	चार्वाकीय सुखवाद का समीक्षात्मक विवेचन	1983	3–4	33
56.	राजदेव दुबे	याज्ञवल्क्य–स्मृति में दार्शनिक विचार	1983	3–4	43
57.	स्वयंप्रकाश पाण्डेय	तान्त्रिक सृष्टि–विद्या	1983	3–4	51
58.	डॉ.(श्रीमती) शोभा निगम	श्री वल्लभ द्वारा जगत्– मिथ्यात्व का खण्डन एवं जगत–सत्यत्व का मण्डन	1983	3–4	55
59.	डॉ. उर्मिला चतुर्वेदी	अज्ञान–मीमांसा	1983	3–4	62
60.	डॉ. रेवतीरमण पाण्डेय	करपात्री जी के अनुसार धार्मिक स्वतन्त्रता का स्वरूप	1983	3–4	71
61.	जे. फाइस	ज्ञान की सम्पूर्णता में दर्शन का स्थान	1983	3–4	86
62.	डॉ. उर्मिला चतुर्वेदी	भारतीय दर्शन में काल–चिन्तन	1984	1	1
63.	डॉ. सत्यस्वरूप सारस्वत	परमार्थता	1984	1	47
64.	डॉ. चन्द्रिका चौबे	सत्तात्मक प्रतिबद्धता	1984	1	56
65.	डॉ. रामलाल सिंह	—''—	1984	1	63
66.	महेश भारतीय	भारत में भ्रष्टाचार निवारणः सम्भावनाएं और उपाय	1984	1	70
67.	जयेन्द्र प्रसाद शुक्ल	गांधीजी का शैक्षणिक तत्त्वज्ञान	1984	1	76
68.	डॉ. रामनन्दन मिश्र	समाज–दर्शनः आधार और आलोक	1984	2	1
69.	डॉ. विनयानन्द दास	क्या नीतिशास्त्र धर्म एवं अध्यात्म का स्थानापन्न है?	1984	2	8

70.	डॉ. पाण्डेय रामायण प्रसाद शर्मा	वैदिक समाज–दर्शन के कुछ मौलिक तत्त्व एवं उनके संरक्षण में उदयपुर का भूमिका	1984	2	16
71.	सुनील कुमार	भारतीय धर्मशास्त्र में वर्णित आचार–दर्शन	1984	2	22
72.	जाकिर अली	इस्लाम धर्म और नैतिकता	1984	2	31
73.	प्रो. कृष्णकुमार झा	नैतिक प्रतीक और नैतिक निर्णय	1984	2	47
74.	डॉ. स्वयंप्रकाश पाण्डेय	जैन सत्यता–कलन	1984	2	53
75.	डॉ. भिखारीराम यादव	'स्यात्' शब्द का अर्थ एवं सर्वेक्षण	1984	2	61
76.	डॉ. अभेदानन्द	न्याय–समीक्षा	1984	2	75
77.	डॉ. रामशंकर मिश्र	धर्म और जीवन–दर्शन	1984	3	1
78.	डॉ. लक्ष्मी सक्सेना	सृजनात्मक धर्म के द्विविध आयाम	1984	3	19
79.	डॉ. जयेन्द्र जे. शुक्ल	सर्व धर्म समन्वय	1984	3	49
80.	जे. फाइस	ज्ञान की सम्पूर्णता में दर्शन का स्थान	1984	4	1
81.	डॉ. जगदीश सहाय श्रीवास्तव	संश्लेषणात्मक अनुभव–निरपेक्ष सत्य	1984	4	17
82.	डॉ. महाप्रभुलाल गोस्वामी	भारतीय दर्शन समन्वय दिग्दर्शन	1984	4	25
83.	कमलाकर मिश्र	क्या हिन्दू धर्म व्यक्तिवादी है?	1984	4	33
84.	डॉ. रामनारायण व्यास	भगवद्गीता : एक समाज दर्शनात्मक दृष्टिकोण	1984	4	43
85.	कृष्णकुमार झा 'कमल'	'अर्थ' : दो प्रसंगों में	1984	4	49
86.	डॉ. बृजकिशोर प्रसाद	हुसर्ल का संवृति विज्ञान	1984	4	55
87.	डॉ. ऊषा कुशवाहा	सांख्य एवं चरकसंहिता के परिप्रेक्ष्य में पुरुष	1985	1	1
88.	डॉ. आलोक सक्सेना	अपरोक्ष अनुभव	1985	1	9
89.	डॉ. राजेन्द्रकुमार सिंह	अनेकान्तवाद : एक मानवतावादी दृष्टिकोण	1985	1	13
90.	मनस्विनी योगी	अनेकान्तवाद का दार्शनिक व व्यावहारिक स्वरूप	1985	1	17
91.	डॉ. विनयानन्द दास	आत्मज्ञान : एक समीक्षात्मक विवेचन	1985	1	23
92.	डॉ. कामेश्वर प्रसाद वर्मा	क्या ईश्वर सम्बन्धी कथन तथ्यात्मक कथन कहे जा सकते हैं ?	1985	1	31
93.	डॉ. सुद्युम्नाचार्य	बौद्धों का क्षणभंगवाद तथा आधुनिक विज्ञान	1985	1	37

94.	डॉ. कनक द्विवेदी	आधुनिकता– एक मूल्यात्मक अनुभव	1985	1	53
95.	डॉ. नरेश प्रसाद तिवारी	चार्वाक दर्शन में नारी की स्थिति	1985	1	59
96.	डॉ. उर्मिला चतुर्वेदी	ज्ञान–विवेचन	1985	2	1
97.	डॉ. एल.पी.एन. सिन्हा	क्या शब्द अनित्य है?	1985	2	27
98.	कु. मुक्तावली	माध्यमिकेतर दर्शनों में अभावात्मक शून्यवाद	1985	2	35
99.	डॉ. दशरथ सिंह	तप की अवधारणा	1985	2	41
100.	राजेश कुमार सिंह	अद्वैत वेदान्त में जीवन्मुक्ति का सम्प्रत्यय	1985	2	49
101.	डॉ. सत्यस्वरूप सारस्वत	अन्तर्चक्षु की अवधारणा	1985	2	55
102.	डॉ. रामजी सिंह	गीता–प्रवचन में अर्जुन की भूमिका	1985	3	1
103.	डॉ. एच.एम. जोशी	मान्यता और तर्क	1985	3	13
104.	डॉ. रघुनाथ गिरि	नव्य न्याय की शैली	1985	3	23
105.	डॉ. नरेश प्रसाद तिवारी	योगानन्द जी के धार्मिक विचार	1985	3	31
106.	डॉ. लक्ष्मण प्रसाद मिश्र	धार्मिक अनुभूत्यात्मक सत्यापनीयता	1985	3	37
107.	सुश्री सरल झिंगरन	अद्वैत वेदान्त और कर्म	1985	3	51
108.	डॉ. सजीवन प्रसाद	तुलनात्मक धर्म की सम्भावना	1985	3	57
109.	डॉ. भगवन्त सिंह	पॉल तिलिख के दर्शन में तर्क का स्वरूप	1985	4	1
110.	डॉ. ब्रजनारायण शर्मा	भारतीय दर्शन में तर्क	1985	4	17
111.	डॉ. रामशंकर मिश्र	धर्म–दर्शन का स्वरूप और उसकी कुछ समस्याएं	1985	4	35
112.	डॉ. शचीन्द्र कुमार सिंह	मध्वाचार्य के दर्शन में ईश्वर की अवधारणा की समीक्षात्मक व्याख्या	1985	4	55
113.	डॉ. चंद्रिका चौबे	बुद्ध के अहिंसा–दर्शन पर उनके गैरनैतिक विचारों का प्रभाव	1985	4	61
114.	डॉ. विनोद कु. तिवारी	निष्काम कर्मयोग– एक पुनर्विवेचन	1986	1	1
115.	डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय	प्रभाकर दर्शन में 'आत्मा' का स्वरूप	1986	1	13
116.	कमला कुमारी	बौद्ध एवं जैन धर्मों में अनीश्वरवादी विचार	1986	1	21
117.	डॉ. उमेशचन्द्र दुबे	समकालीन भारतीय दर्शन में परम्परा एवं आधुनिकता	1986	1	31

118.	डॉ. मोहनलाल शर्मा	ज्ञानेश्वरी की तत्त्वमीमांसा	1986	1	47
119.	डॉ. शारदा चतुर्वेदी	शैव दर्शन की इच्छात्मिका शक्ति के परिप्रेक्ष्य में फ्रॉयड	1986	1	55
120.	प्रो. नित्यानन्द मिश्र	शंकर और हुस्सर्ल	1986	2	1
121.	प्रो. लक्ष्मी सक्सेना	कार्ल यास्पर्सः सीमा–रेखीय चिन्तन की अपूर्व दृष्टियां	1986	2	9
122.	डॉ. ऊषा कुशवाहा	सांख्य की तत्त्वमीमांसा का विकासक्रम	1986	2	49
123.	डॉ. बृजकिशोर पाण्डेय	आचार्य समन्तभद्र के मोक्ष विचार पर एक तुलनात्मक दृष्टि	1986	2	59
124.	जे. फाइस	मासों–उर्सेल के अनुसार तुलनात्मक दर्शन	1986	3	1
125.	डॉ. गया चरण त्रिपाठी	ग्रन्थ एक : पन्थ अनेक श्रीमद्भगवद्गीता और उसकी विविध व्याख्याएं	1986	3	13
126.	डॉ. वेदप्रकाश वर्मा	क्या ईश्वर विषयक चर्चा सार्थक और बोधगम्य है ?	1986	3	21
127.	डॉ. उमेशचन्द्र दुबे	श्री अरविन्द–दर्शन के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक विकास एवं परिवर्तन	1986	3	29
128.	डॉ. नगेन्द्रनाथ उपाध्याय	एक तान्त्रिक बौद्ध रहस्यदर्शी अपभ्रंश पद और तद्गत सिद्धान्त	1986	3	41
129.	डॉ. शचीन्द्र कुमार सिंह	टॉमस एक्वाइनस के दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व सम्बन्धी समस्याएं	1986	3	51
130.	डॉ. गोरखनाथ मिश्र	तार्किक आकार– विषय और सत्ता	1986	3	55
131.	डॉ. रमेश कुमार त्रिपाठी	जे. कृष्णमूर्ति का दर्शन	1986	4	1
132.	डॉ. छाया राय	नैतिक मापदण्ड की खोज	1986	4	7
133.	डॉ. अंजनी कुमार सिंह	गीता में अवतार–तत्त्व का दार्शनिक निरूपण	1986	4	15
134.	डॉ. विजय कान्त	श्री अरविन्द–दर्शन में प्रज्ञा	1986	4	27
135.	डॉ. राघवेन्द्र पाण्डेय	प्रामाणयवाद	1986	4	33
136.	प्रो. कृष्ण कुमार झा	दार्शनिक चिन्तन एवं समाज परिवर्तन	1986	4	37
137.	डॉ. लाला पंचानन्द सिन्हा	श्री योगानन्द का धर्म–दर्शन	1986	4	43
138.	डॉ. एस.के. सिंह	ईश्वर में विश्वास की व्यावहारिक आवश्यकता	1986	4	49

139.	प्रदीप कुमार खरे	प्रो. कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के दर्शन में सैद्धान्तिक चेतना का स्वरूप	1986	4	55
140.	डॉ. एस.के त्रिपाठी	ईश्वर विषयक प्रभाकरीय दृष्टिकोण	1986	4	61
141.	प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय	क्या दिङ्नाग धर्मकीर्ति सम्प्रदाय विज्ञानवादी है?	1987	1	1
142.	जे. फाइस	धार्मिक सहिष्णुता– सही सैद्धान्तिक आधार की खोज में	1987	1	11
143.	डॉ. मंजु	सौत्रान्तिक और माध्यमिक मत में गति और परिवर्तन	1987	1	23
144.	डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास	धर्मकीर्ति और उत्पल की सम्बन्ध विषयक अवधारणाएं	1987	1	29
145.	डॉ. चन्द्रिका चौबे	वेदान्त परिभाषा में प्रमा एवं अप्रमा	1987	1	33
146.	डॉ. जे.जे. शुक्ल	क्या सिख सम्प्रदाय हिन्दू नहीं है?	1987	1	39
147.	डॉ. गोरखनाथ मिश्र	भारतीय और पाश्चात्य कट्टर यथार्थवाद	1987	1	47
148.	डॉ. एन.के. देवराज	मेरा दर्शनः प्रस्थान बिन्दु	1987	2	1
149.	डॉ. या. मसीह	धर्म समन्वय का स्वरूप और सिद्धान्त	1987	2	11
150.	प्रो. रिपुसूदन प्र. श्रीवास्तव	धार्मिकता का सम्प्रत्ययः गीता से ब्रैथवेट तक	1987	2	23
151.	डॉ. हरिशंकर प्रसाद	बौद्ध दर्शन में कारणता	1987	2	31
152.	डॉ. डी.आर. भण्डारी	धार्मिक सहिष्णुता	1987	2	43
153.	डॉ. प्रदीप कुमार खरे	गीता में वर्णित नैतिक मापदण्ड का मूल्यांकन : वर्तमान परिप्रेक्ष्य में	1987	2	57
154.	डॉ. विद्यानिवास मिश्र	भारतीय काल–प्रत्ययः आधुनिक सन्दर्भ	1987	3	1
155.	डॉ. सभाजीत मिश्र	हुसर्ल के दर्शन में विषयापेक्षी चेतना तथा अनुभवातीत आत्मा का सम्बन्ध	1987	3	23
156.	डॉ. मदनमोहन त्रिवेदी, राकेश कुमार पाण्डेय	श्रीमदभगवद्गीता के प्रकाश में भागवत–योग का स्वरूप	1987	3	29
157.	डॉ. रमा पाण्डेय	भारतीय दार्शनिक वाङ्मय में शक्ति की अवधारणा	1987	3	45
158.	डॉ. प्रियव्रत शुक्ल	विट्गेन्स्टाइन के अनुसार दर्शन का स्वरूप एवं कार्य	1987	3	51

159.	डॉ. लक्ष्मीकान्त पाण्डेय	राधाकृष्णन् के दर्शन में विकासवाद की अवधारणा	1987	3	57
160.	डॉ. सागरमल जैन	धर्म और दर्शन के क्षेत्र में हरिभद्र का अवदान	1987	4	1
161.	प्रो. रमेश एम. दवे	शब्द–अर्थ मीमांसा	1987	4	21
162.	डॉ. मंजु	क्या माध्यमिक निरपेक्ष तत्त्ववादी हैं?	1987	4	29
163.	डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा	चिन्तन जीवन और अस्तित्व की आत्मनिष्ठ व्यक्तिपरकता	1987	4	39
164.	डॉ. राधाधर शर्मा	हुसर्ल की दृष्टि में दर्शन का स्वरूप : एक विश्लेषण	1987	4	51
165.	डॉ. किरण कुमारी श्रीवास्तव	अहिर्बुध्न्य संहिता : एक परिचय	1987	4	57
166.	डॉ. हरिद्वारी लाल शर्मा	भारतीय सौन्दर्य दृष्टि	1988	1	1
167.	डॉ. (श्रीमती) उमा पन्त	पी.एफ. स्ट्रासन एवं विश्लेषणात्मक दर्शन	1988	1	8
168.	डॉ.(कु.) छाया राय	वैचारिक क्रान्ति के अग्रदूत देवात्मा	1988	1	15
169.	डॉ. गायत्री सिन्हा	जोसिया रॉयस के दर्शन में निरपेक्ष तत्त्व का स्वरूप	1988	1	28
170.	डॉ. ललितकिशोरलाल श्रीवास्तव	अहिंसा और अनासक्त कर्मः एक सर्वेक्षण	1988	1	39
171.	डॉ.(श्रीमती) छाया शर्मा	संवादिता का सिद्धान्त	1988	1	48
172.	गौरी मुकर्जी	कर्मयोग– गीता के विशेष सन्दर्भ में	1988	1	57
173.	हरिद्वारीलाल शर्मा	अर्थ से काव्यार्थ तक : काव्य का अध्यात्म	1988	2	1
174.	डॉ. उषा कुशवाहा	सांख्याभिमत प्रमाण मीमांसा	1988	2	22
175.	प्रदीप कुमार खरे	गांधी दर्शन में साधन–साध्य विचार	1988	2	38
176.	डॉ. जयदेव अ. जानी	पंचदशांगयोग प्रकरणम्– एक अध्ययन	1988	2	44
177.	रेवतीरमण पाण्डेय	वेदान्त एवं भारतीय संस्कृतिः वसुदेवः सर्वमिति	1988	2	50
178.	डॉ. लालापंचानन सिन्हा	भारतीय दर्शन में द्वैत की अवधारणा	1988	3	1
179.	डॉ. रमेश कुमार त्रिपाठी	जे. कृष्णमूर्ति का ध्यान मार्ग	1988	3	11
180.	डॉ. छाया राय	जैनागमकालीन समाज और कन्या	1988	3	16
181.	डॉ. गायत्री सिन्हा	स्वामी विवेकानन्द की विश्वधर्म की अवधारणा	1988	3	27

182.	डॉ. राज्यश्री अग्रवाल	हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का दार्शनिक आधार	1988	3	37
183.	डॉ. लक्ष्मीकान्त पाण्डेय	उपनिषदों में सदाचार की अवधारणा	1988	3	49
184.	मलय कुमार महान्ति	मार्क्स का धर्म सम्बन्धी दृष्टिकोण	1988	3	57
185.	डॉ. सुद्युम्नाचार्य	बौद्धसम्मत पदार्थों का स्वरूप तथा आधुनिक विज्ञान	1989	1–4	1
186.	डॉ. विभारानी दूबे	काश्मीर शैव–दर्शन में भक्ति का स्वरूप	1989	1–4	26
187.	डॉ. गीता अग्रवाल	ईश्वर साधक युक्तियों का समीक्षात्मक अध्ययन	1989	1–4	36
188.	डॉ. विनोद शंकर	गणित के क्षेत्र में ज्ञान की संभावना	1989	1–4	47
189.	डॉ. चन्द्रप्रकाश श्रीवास्तव	कार्ल यास्पर्स के चिंतन में विज्ञान एवं दर्शन का स्वरूप	1989	1–4	52
190.	डॉ. भगवन्त सिंह	भारतीय दर्शन में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध	1989	1–4	61
191.	डॉ. उर्मिला चतुर्वेदी	ईश्वर और मानव	1989	1–4	69
192.	डॉ. छाया राय	भारतीय नीतिमीमांसा का सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य	1989	1–4	77
193.	डॉ. उमेश चन्द्र दूबे	श्री अरविन्द दर्शन का वैशिष्ट्य	1989	1–4	90
194.	डॉ. एस.एन. पाण्डेय	स्वामी नारायण का धर्म–दर्शन तथा अक्षर–पुरुषोत्तम की अवधारणायें	1989	1–4	103
195.	डॉ. डी.एन. तिवारी	अविद्या एवं विद्या	1989	1–4	115
196.	रजनीश कुमार शुक्ल	शांकर वेदान्त– सत् मूल्य तादात्म्य	1989	1–4	126
197.	प्रो. अर्जुन मिश्र	दार्शनिक सिद्धान्तों का मानव के व्यावहारिक कार्य–कलापों से सम्बन्ध	1990	1–4	1
198.	प्रो. नित्यानन्द मिश्र	दर्शन, धर्म और राजनीति	1990	1–4	17
199.	प्रो. हरसिद्ध म. जोषी	तुलनात्मक धर्म एवं धर्म दर्शन	1990	1–4	37
200.	डॉ. पद्मजा सेन	दार्शनिक विश्लेषण : विकास एवं भूमिका	1990	1–4	50
201	साधु श्रुतिप्रकाशदास	सांख्य दर्शनान्तर्गत प्रकृतिपुरुष : श्री स्वामिनारायण दर्शन के सन्दर्भ में	1990	1–4	60
202.	डॉ. डी.एन. तिवारी	संख्या की अवधारणा : वाक्यपदीय के सन्दर्भ में	1990	1–4	72

203.	डॉ. मंजु	शिक्षा और मूल्यबोध– भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में	1990	1–4	88
204.	डॉ. मुकुलराज मेहता	जैन–द्रव्य का वर्गीकरण : अस्तिकाय एवं अनस्तिकाय	1990	1–4	94
205.	डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा	तत्त्वमीमांसा ज्ञानमीमांसा का पूर्वगामी है ? एक न्यायवादी बौद्ध समीक्षा	1990	1–4	99
206.	डॉ. डी.आर. भण्डारी	मूल्यों की सामाजिक उपादेयता	1990	1–4	117
207.	डॉ. जगदीश सहाय श्रीवास्तव	धर्म–निरपेक्षता	91–92	1–4	1
208.	डॉ. गिरधारीलाल चतुर्वेदी	अद्वैत वेदान्त में अर्थबोध : मूल मान्यतायें	91–92	1–4	9
209.	डॉ. श्रीप्रकाश दुबे	धर्म–मीमांसा के आयाम	91–92	1–4	16
210.	डॉ. दीनानाथ शुक्ल	भामती मत में ज्ञान का स्वरूप	91–92	1–4	25
211.	डॉ. वशिष्ठ ना. सिन्हा	अनेकान्तवाद–एक विश्लेषण	91–92	1–4	32
212.	डॉ. बृजकिशोर पाण्डेय	जैन दर्शन में अनेकान्तवाद	91–92	1–4	41
213.	डॉ. ललितकिशोर गुप्त	अनेकान्तवाद	91–92	1–4	52
214.	डॉ.(श्रीमती)वीणा शरण	धर्म की भाषा की विशिष्टता	91–92	1–4	58
215.	कु. लता तिवारी	कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य : वस्तु का दर्शन	91–92	1–4	68
216.	डॉ. रंजना कुमारी झा	एम.एन. राय का मार्क्सवाद	91–92	1–4	75
217.	डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा	प्रमाणन्तर्भाव प्रकरण विमर्श	91–92	1–4	88
218.	डॉ. रजनीश कु. शुक्ल	सौन्दर्यानुभूतिः ज्ञान...विवेचन	91–92	1–4	102
219.	डॉ. मुकुलराज मेहता	जैनाचार्यों के मत में प्रमाण	91–92	1–4	109
220.	डॉ. विजयकान्त दुबे	बदलते सामाजिक प्रतिमानों..	91–92	1–4	113
221.	डॉ. सुचेता शुक्ला	स्वामी करपात्री सम्मत....विवेचन	91–92	1–4	123
222.	चि.व. रावल	धर्म–सच्च मिमांसा	1993	1–4	1
223.	प्रो. गौरांगचरण नायक	श्री स्वामीनारायण जी के दार्शनिक सिद्धान्तों का समीक्षात्मक अध्ययन	1993	1–4	16
224.	डी. आर. भण्डारी	चिन्तन के आयाम : दर्शन एवं विज्ञान के संदर्भ में	1993	1–4	28
225.	नरेश प्रसाद तिवारी	तत्वमीमांसा की प्रासंगिकता	1993	1–4	38
226.	श्रीराम पाठक	दर्शन और पर्यावरण	1993	1–4	57
227.	आलोक टण्डन	हिंसा से परे : कृष्णमूर्ति और गांधी	1993	1–4	62
228.	शैलेश कुमार सिंह	एयर के अधिनैतिक सिद्धान्त का मूल्यांकन	1993	1–4	71
229.	जे. फाईस	रहस्यवाद के क्षेत्र में तत्वमिमांसा अपर्याप्त	1993	1–4	76

230.	जगतनारायण मिश्र	शंकर के अनुसार मोक्ष का स्वरूप	1993	1–4	81
231.	चन्द्रशेखर	सूफी दर्शन के दस स्वयंसिद्ध सिद्धान्त	1993	1–4	89
232.	ललिता यादव	माध्यमिक शून्यवाद का मानदण्ड "रासायनिक क्रान्ति"	1993	1–4	94
233.	डॉ. रामलाल सिंह	श्री स्वामी नारायण सेश्वर वेदान्त एवं प्रार्थना की ईश्वरवादी अवधारणा	1994 (अ)	1–4	1
234.	डॉ. मधुसूदन प्रसाद	आधुनिक युग में देव धर्म की उपयोगिता	1994	1–4	12
235.	डॉ. डी.आर. भण्डारी	स्वधर्म और सर्वधर्म समभाव	1994	1–4	20
236.	प्रो. एस.बी.पी.सिन्हा	व्यावहारिक दर्शन– आज की आवश्यकता	1994	1–4	29
237.	डॉ. नरेन्द्र सिंह	समकालीन भारतीय दार्शनिक चिन्तन में पुरुषार्थ की अवधारणा	1994	1–4	36
238.	डॉ. (कु.) गीतारानी अग्रवाल	समकालीन भारतीय दार्शनिक चिंतन में पुरुषार्थ की अवधारणा	1994	1–4	45
239.	डॉ.एस. थपलियाल	व्यावसायिक नैतिकता की अवधारणा	1994	1–4	51
240.	डॉ. शैलेश कुमार सिंह	––"––	1994	1–4	59
241.	डॉ. राघवेश मिश्र	व्यावसायिक नैतिकता	1994	1–4	65
242.	डॉ. महेश सिंह	धर्म और धार्मिक मिथ्याबोध	1994	1–4	75
243.	डॉ. राधिका रमण सिन्हा	जैन दर्शन में स्याद्वाद	1994	1–4	84
244.	डॉ. लाला गोपाल प्रसाद	परमतत्व का स्वरूप एवं जगत् और जीव के साथ सम्बन्ध– श्री अरविन्द	1994	1–4	97
245.	डॉ. सोमनाथ नेने	भगवद्गीता में तात्त्विक समन्वय	1994	1–4	104
246.	डॉ. रघुनाथ गिरि	नव्यन्यायः कुछ प्रमुख बिन्दु	1994	1–4	113
247.	डॉ. (कु.) हेमलता श्रीवास्तव	भारतीय दर्शन में सामान्य	1994 (ब)	1–4	05
248.	डॉ. रामा प्रसाद	गीता की तत्त्व–मीमांसीय दृष्टि	1994	1–4	09
249.	डॉ. अरुण कुमार सिंह	ज्यॉ पॉल सार्त्र का नैतिक दर्शन	1994	1–4	12
250.	डॉ. कुमुद नाथ झा	गंगेश उपाध्याय के प्रत्यक्ष सिद्धांत का समीक्षात्मक विश्लेषण	1994	1–4	16

276.	डॉ. कुमुदनाथ झा एवं निर्मल कुमार तिवारी	जैन तथा सांख्य दर्शनों में संज्ञान का स्वरूप	1995	1—4	102
277.	डॉ. विजयश्री	स्वदेशी एवं वैचारिक प्रगति	1995	1—4	113
278.	प्रो. एन.बी. पटेल	स्वदेशी	1995	1—4	123
279.	डॉ. जे.पी. शाक्य एवं कु. कल्पना जैन	जैन शिक्षा दर्शन	1995	1—4	130
280.	प्रो. काशीनाथ उपाध्याय	विचार शक्ति और अनुभव : भारतीय और पाश्चात्य दर्शन के परिप्रेक्ष्य में	1995	1—4	137
281.	डॉ. शशिप्रभा कुमार	वैदिक, आर्हत एवं सौगत धर्म—दर्शन में मोक्ष की अवधारणा	1996	1—4	1
282.	प्रो. रमेशचन्द्र सिन्हा	तुलनात्मक धर्म की विधि	1996	1—4	16
283.	डॉ. भगवन्त सिंह	धर्म और उसकी प्रासंगिकता	1996	1—4	31
284.	डॉ. सुरेन्द्रकुमार श्रीवास्तव	देवात्मा व्याख्यान— सच्चा मानववाद	1996	1—4	35
285.	डॉ. मदन मोहन त्रिवेदी	प्रमाण—व्यवस्था बनाम प्रमाण संप्लव	1996	1—4	40
286.	डॉ. कुमुदनाथ झा	जैन प्रमाण व्यवस्था का स्वरूप : एक विश्लेषण	1996	1—4	43
287.	डॉ. डी.आर. भण्डारी	मूल्य, मूल्य संकट एवं निराकरण	1996	1—4	51
288.	डॉ. आलोक टण्डन	वर्तमान सांस्कृतिक संकट	1996	1—4	56
289.	डॉ. शैलेश कुमार सिंह	सांस्कृतिक संकट	1996	1—4	65
290.	डॉ. (श्रीमती) प्रियम्वदा	व्यंजना वृत्ति	1996	1—4	70
291.	डॉ. श्रीप्रकाश दुबे	विनोबा की वैश्विक दृष्टि	1996	1—4	82
292.	प्रो. के.पी. वर्मा	धार्मिक भाषा की सार्थकता के सन्दर्भ में विश्लेषणपरक चिन्तन का मत	1996	1—4	89
293.	कालीचरण पांडेय	विट्गेन्स्टाइन का धार्मिक मत : एक विश्लेषण	1996	1—4	93
294.	डॉ. किरण कुमारी	धर्म और शांति का आधार— मानवतावाद	1996	1—4	99
295.	अणिमा कुमारी	रामकृष्ण परमहंस का धर्म—दर्शन और उसकी आधुनिक युग में प्रासंगिकता	1996	1—4	103
296.	डॉ. नागेन्द्र तिवारी	मीमांसा एवं न्याय दर्शन में शब्द प्रमाण	1996	1—4	110

297.	राजदीप सिंह	शंकराचार्य के दर्शन में योग की अवधारणा	1996	1–4	115
298.	नागेन्द्रमणि 'मंजुल'	भारतीय दर्शन परम्परा में गांधी	1996	1–4	129
299.	डॉ. अमलधारी सिंह	वैदिक धर्म का स्वरूप	1997	1–4	1
300.	डॉ. प्रियव्रत शुक्ल	श्रुत्यर्थ विवेचन एवं तत्त्व मीमांसा के नवीन आयाम	1997	1–4	17
301.	डॉ. जे. फाइस	धर्म दर्शन की भूमिका	1997	1–4	28
302.	डॉ. वेदवती वैदिक	श्री स्वामी नारायण सेश्वर वेदान्त में अक्षर ब्रह्म	1997	1–4	41
303.	डॉ. विश्राम प्रसाद	प्रतीत्य समुत्पाद के विभिन्न अर्थ	1997	1–4	52
304.	कमलेश कुमार	बौद्ध दर्शन के परिप्रेक्ष्य में कारणता विचार	1997	1–4	60
305.	डॉ. आभास कुमार	बौद्ध दर्शन के परिप्रेक्ष्य में परिवर्तन का सम्प्रत्यय	1997	1–4	67
306.	डॉ. आलोक टण्डन	कन्फ्यूशियस का नैतिक दर्शन	1997	1–4	73
307.	डॉ. सोमनाथ नेने	मीमांसा का नैतिक तथा सामाजिक अवदान	1997	1–4	80
308.	डॉ. एच.एन. मिश्र	कन्फ्यूशियस तथा गीता	1997	1–4	101
309.	डॉ. डी.आर. भण्डारी	श्रावक धर्म एवं मानव समाज : जैन धर्म के सन्दर्भ में	1997	1–4	110
310.	डॉ. विजयकान्त दुबे	आधुनिक भारतीय दर्शन एवं पुनर्जागरण	1997	1–4	114
311.	डॉ. विजयश्री	समान नागरिक संहिता– एक दार्शनिक विश्लेषण	1997	1–4	124
312.	डॉ. मृत्युंजय ना. सिंह	धर्म– एक आनन्द बोध	1998	1–2	1
313.	डॉ. रामनन्दन मिश्र	देवात्मा का नीतिशास्त्रीय सिद्धान्त	1998	1–2	10
314.	डॉ. लक्ष्मीकान्त पाण्डेय	सामाजिक नैतिकताः नैतिकता का आवश्यक पहलू	1998	1–2	19
315.	डॉ. सुरेन्द्र सिंह नेगी	विशिष्टाद्वैत का केन्द्रीय तत्त्वः पंचरात्र	1998	1–2	32
316.	औतार लाल मीणा	धर्मशास्त्र परम्परा एवं नारी अधिकार (धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक)	1998	1–2	39
317.	आभास कुमार	ब्राह्मण एवं बौद्ध चिन्तन में नारियों की सामाजिक स्थिति	1998	1–2	47
318.	डॉ. दुर्गादत्त पाण्डेय	सन्त का लक्ष्यार्थ	1998	1–2	52
319.	डॉ. अमरेन्द्र मिश्र	वेद एवं वेदांग का व्यावहारिक विश्लेषण	1998	1–2	60

320.	डॉ. ए.के. मर्चेण्ट	हिन्दू धर्म एवं बहाई धर्म : शास्त्रीय समानताएं एवं असमानताएं	1998	1–2	66
321.	डॉ. मुकतदा ह.अजहरी (अनुवादक : मसउद अहमद खाँ)	इस्लाम के बुनियादी स्तंभों के बारे में– कुरान की एक आयत (श्लोक)	1998	1–2	77
322.	डॉ. महेश सिंह	"मानवाधिकार" से जुड़े कतिपय प्रश्न	1998	1–2	85
323.	डॉ. के.एस. द्विवेदी	मानवाधिकार	1998	1–2	94
324.	डॉ. ललिता देवी यादव	नागरिक संहिता	1998	1–2	107
325.	डॉ. भगवन्त सिंह	समान नागरिक संहिता	1998	1–2	114
326.	डॉ. श्यामल किशोर	नागरिक संहिता	1998	1–2	117
327.	प्रो. ई.आर. मठवाले	नागरिक संहिता	1998	1–2	123
328.	डॉ. अरुण सिंह	वैज्ञानिक दृष्टि– प्रकृति एवं सीमा	1998	1–2	132
329.	डॉ. शुक्ला सिन्हा	प्रत्यक्षमूलक ज्ञान तथा विश्लेषण	1998	3–4	1
330.	डॉ. वेदप्रकाश गौड़	महात्मा गांधी का धर्म दर्शन	1998	3–4	10
331.	डॉ. हरिनारायण पांडेय	भारतीय दर्शन में तत्त्व–मीमांसा का स्थान एवं महत्त्व	1998	3–4	16
332.	डॉ. मदनमोहन त्रिवेदी	भारतीय दर्शन में अनुमान एवं व्याप्ति	1998	3–4	25
333.	डॉ. गोपाल कृष्ण सिन्हा	क्या दर्शन भाषाई विश्लेषण है?	1998	3–4	30
334.	डॉ. वेदवती वैदिक	उपनिषदों की व्याख्या–पद्धति	1998	3–4	41
335.	डॉ. सोमनाथ नेने	भाट्ट मीमांसा में प्रमाण लक्षण–विमर्श	1998	3–4	49
336.	डॉ. गीतारानी अग्रवाल	प्रकृतिवाद : दर्शन एवं शिक्षा–दर्शन के सन्दर्भ में	1998	3–4	58
337.	डॉ. राधेश्यामधर द्विवेदी	भारतीय संस्कृति में धार्मिक सामाजिक परिवर्तन कैसे सम्भव होगा?	1998	3–4	65
338.	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद पांडेय	भारतीय नीति दर्शन के मूलाधार	1998	3–4	84
339.	डॉ. शिवनारायण जोशी	ईश्वर केन्द्रित धर्म में स्वतन्त्रता की संभावना	1999	1–2	1
340.	डॉ. शशिप्रभा कुमार	तत्त्व मीमांसा के वैदिक आधार	1999	1–2	14
341.	प्रो. श्यामनारायण चौधरी	वैदिक दर्शन : एक अनुशीलन	1999	1–2	25
342.	डॉ. कुमुदनाथ झा	सांख्य ज्ञान मीमांसा की मूलभूत मान्यतायें	1999	1–2	36
343.	डॉ. हर्षवर्द्धन प्रसाद सिंह	देवात्मा का धर्म–दर्शन और इसकी प्रासंगिकता	1999	1–2	51

344.	डॉ. भगवन्त सिंह	तुलनात्मक दर्शनः आवश्यकता एवं उपादेयता	1999	1–2	61
345.	डॉ. एन.पी. तिवारी	भारतीय दर्शन का मूल स्वरूपः देवात्मा के संदर्भ में	1999	1–2	66
346.	डॉ. आभा सिंह	स्वराज की अवधारणा : विविध आयाम	1999	1–2	75
347.	डॉ. किरण कुमारी	स्वराज्य एवं महात्मा गांधी	1999	1–2	83
348.	डॉ. अम्बिका दत्त शर्मा	स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय चिन्तन में तत्त्वमीमांसा का औचित्य	1999	1–2	95
349.	डॉ. संजय शुक्ल	स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दार्शनिक चिन्तन	1999	1–2	107
350.	डॉ. (सुश्री) निर्मल गर्ग	स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय चिन्तन में स्वामी सत्य भक्त एवं उनका दार्शनिक चिन्तन	1999	1–2	115
351.	डॉ. श्यामल किशोर	गांधी के वर्ण–व्यवस्था की प्रासंगिकता	1999	1–2	119
352.	डॉ. रघुनाथ गिरि	वाक्यार्थ विचार : कतिपय आयाम	1999	3–4	1
353.	डॉ. कुमुदनाथ झा, डॉ. निर्मल कु. तिवारी	वाक्यार्थ विचार : भर्तृहरि के संदर्भ में	1999	3–4	6
354.	डॉ. सोमनाथ नेने	शब्द–तत्त्व का दार्शनिकपक्ष तथा व्यावहारिक संगति	1999	3–4	15
355.	डॉ. नागेन्द्र तिवारी	मीमांसा दर्शन में शब्दार्थ सम्बन्ध विचार	1999	3–4	25
356.	डॉ. मुन्नी अग्रवाल	आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में अद्वैत वेदान्त	1999	3–4	28
359.	डॉ. डी.आर. भण्डारी	तिलक– कर्मयोग से स्वराज्य तक : एक विश्लेषण	1999	3–4	36
360.	प्रो. ई. आर. मठवाले	स्वराज्य की अवधारणा : विधि व आयाम	1999	3–4	42
361.	डॉ. उर्मिला चतुर्वेदी	आचार्य विनोवा भावे और साम्य योग	1999	3–4	47
362.	नीति गुप्ता	जैविक सिद्धान्त : जीव और जीवलीला	1999	3–4	57
363.	सुनील कुमार सिंह	हिन्दू धर्म में आयुर्वेद की चिकित्सा–पद्धति : एक जैव आचार शास्त्रीय अध्ययन	1999	3–4	61
364.	गायत्री शर्मा	डेकार्ट का दर्शन–ईश्वर विवेचन	1999	3–4	67

365.	अणिमा कुमारी	महात्मा गांधी का तत्वमीमांसीय विचार	1999	3–4	83
366.	डॉ. वेदप्रकाश वर्मा	मनुष्य के चरित्र–निर्माण में देवात्मा–दर्शन का योगदान	1999	3–4	88
367.	डॉ. विनोद कुमारी	उत्तराधुनिक राजनैतिक चिन्तन की पाश्चात्य दृष्टिः कुछ प्रमुख प्रश्न	1999	3–4	101
368.	राजकुमारी सिन्हा	विज्ञान और धर्म का द्वंद्व	1999	3–4	109
369.	डॉ. मुरली मनोहर पाठक	हिरण्यगर्भ का वैदिक स्वरूप	1999	3–4	118
370.	डॉ. दीनानाथ शुक्ल	कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के अनुसार निरपेक्ष की अवधारणा	1999	3–4	125
371.	डॉ. विजयश्री	सर्जनात्मक स्वराज्य	1999	3–4	130
372.	डॉ. विजय कान्त दुबे	मानव स्वातंत्र्य : शंकर एवं सार्त्र	1999	3–4	138
373.	डॉ. प्रेमलता सिन्हा	गीता में स्थितप्रज्ञता	1999	3–4	147
374.	डॉ. शशिभूषण प्र. सिन्हा	आधुनिक युग में दर्शन की भूमिका	1999	3–4	155
375.	डॉ. शैल कुमारी	भारतीय दर्शन और भारतीय संगीत का अन्तःसम्बन्ध	1999	3–4	163
376.	प्रो. रमेश चन्द्र सिन्हा	ऐतिहासिक प्रक्रिया एवं सामाजिक परिवर्तन	2000	1–2	1
377.	डॉ. महेश सिंह	श्री नारायण सेश्वर वेदान्त में ब्रह्मपरिणामवाद	2000	1–2	17
378.	डॉ. शोभा निगम	एम.एन. राय का भौतिक दर्शन एवं उनके आदर्श	2000	1–2	29
379.	प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय	स्वामी प्रकाशानन्द सरस्वती	2000	1–2	36
380.	डॉ. रजनीश कु. शुक्ल	वाचस्पति मिश्र द्वारा स्फोटवाद का खण्डन	2000	1–2	41
381.	डॉ. विभा मुकेश एवं डॉ. मुकेश चन्द्र डिमरी	फ्रैन्सिस हरबर्ट ब्रैडले :– पाश्चात्य नव्य चिद्वादी दार्शनिक	2000	1–2	49
382.	डॉ. रोहतास कु. सुथार	महामति प्राणनाथ जी का दार्शनिक चिंतन	2000	1–2	58
383.	डॉ. सच्चिदानंद प्रसाद	डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार आध्यात्मिक धर्म का स्वरूप	2000	1–2	67
384.	डॉ. विनोद कुमारी	नारी सहभागिता : चुनौती एवं दायित्व	2000	1–2	71
385.	डॉ. रंजना गुप्ता	––"––	2000	1–2	77
386.	अणिमा कुमारी	नारी सहभागिता	2000	1–2	91

387.	डॉ. (सुश्री) निर्मल गर्ग	धर्म समभाव का अर्थ एवं परिभाषा	2000	1–2	96
388.	डॉ. रघुनाथ गिरि	श्रुति एवं तर्क	2000	1–2	107
389.	डॉ. प्रियंवदा गौड़	श्रुति एवं तर्क	2000	1–2	112
390.	डॉ. बी.आर. शांता कुमारी	युक्ति और श्रुति	2000	1–2	116
391.	सदानन्द प्र. सिंह	बौद्ध चिन्तन में आस्था की भूमिका	2000	1–2	122
392.	प्रो. वसंत पापलकर	यंत्रप्रज्ञा की संभवनीयता	2000	1–2	126
393.	डॉ. ऋषिकान्त पाण्डेय	कथ्यात्मक और सम्पादनात्मक वचन	2000	1–2	133
394.	डॉ. अरुण कुमार सिंह	विज्ञानवाद एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन में चेतना का स्वरूप	2000	1–2	140
395.	डॉ. आर.के. सिंह	सांख्य और वेदान्त दर्शनों में ज्ञान का स्वरूप	2000	1–2	147
396.	डॉ. विनय कुमार सिंह	विश्व धर्म के आयाम– सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्ष	2000	1–2	154
397.	डॉ. राजकुमारी सिन्हा	नारी सहभागिताः दायित्व एवं चुनौतियां	2000	3–4	1
398.	डॉ. दीनानाथ शुक्ल	प्राचीन न्याय में निग्रह–स्थानः स्वरूप एवं प्रकार	2000	3–4	10
399.	डॉ. अविनाश कु. श्रीवास्तव	बौद्ध दर्शन की अभियोजनशीलता	2000	3–4	16
400.	डॉ. मुरली मनोहर पाठक	ऋग्वेद में आचार–मीमांसा	2000	3–4	21
401.	डॉ. संजीव कुमार	बौद्ध दर्शन में अर्हत	2000	3–4	27
402.	डॉ. आर.के देसवाल	बौद्ध दर्शन में दुःख की समस्या एवं उसका समाधान	2000	3–4	31
403.	डॉ. सोमनाथ नेने	प्रभाकर मीमांसा में सैद्धान्तिक समन्वय	2000	3–4	36
404.	डॉ. जय सिंह	चार्वाक के अनुसार आत्मा का खण्डन	2000	3–4	43
405.	डॉ. राम किशोर सिंह	जैन एवं वेदान्त दर्शनों में कर्म–विपाक की अवधारणा	2000	3–4	49
406.	डॉ. डी.आर. भन्डारी	धर्म, सम्प्रदाय एवं धर्मनिरपेक्षता	2000	3–4	52
407.	आनन्द प्रकाश त्रिपाठी	जैन दर्शन में इन्द्रिय स्वरूप	2000	3–4	63
408.	डॉ. त्रिलोक चंद	वर्तमान परिप्रेक्ष्य में वर्ण–व्यवस्था की कुछ विशेषतायें	2000	3–4	69
409.	माधवी कवि	नारी सहभागिता– चुनौती एवं दायित्व	2000	3–4	72
410.	एम.एन. सिन्हा	भगवद्गीता में स्वधर्म विचार	2000	3–4	78
411.	डॉ. एस.पी. दुबे	भारतीय दर्शन के पांच दशक	2000	3–4	83
412.	डॉ. के.सी. पाण्डेय	विट्गेन्स्टाइन का 'अन्धविश्वास सम्बन्धी' विचार	2000	3–4	90

413.	डॉ. सोमनाथ नेने	"पूर्वमीमांसा में अपूर्वता के त्रिविध आयाम"	2001	1	1
414.	डॉ. कमलेश कुमार	द्रव्य का परिणामी– नित्य स्वरूप	2001	1	11
415.	प्रो. ई.आर. मठवाले	भाषा, राष्ट्रभाषा एवं समाजदर्शनः भारत के संदर्भ में	2001	1	17
416.	श्री अमित व्यास	भारतीय दर्शन में अध्यात्म और विज्ञान	2001	1	23
417.	डॉ. सुनंदा कुमारी	वर्तमान संदर्भ में महात्मा बुद्ध के दर्शन की प्रासंगिकता	2001	1	29
418.	शुक्ला सिन्हा	परमहंस योगानन्द के दर्शन के कुछ प्रमुख आयाम	2001	1	36
419.	डॉ. माला भट्टाचार्य	श्रीमद् भगवद् गीता में भक्ति	2001	1	47
420.	डॉ. प्रियव्रत शुक्ल	शिव–सूत्रार्थ पर्यालोचनाः ओशो की दृष्टि	2001	1	53
421.	डॉ. दीनानाथ शुक्ल	राजशेखर का दार्शनिक चिंतन	2001	1	66
422.	प्रो. गौरांग चरण नायक	ब्रह्मवाद और शून्यवाद– एक तुलनात्मक और तात्त्विक समीक्षा	2001	1	71
423.	डॉ. प्रभास कुमार	बौद्ध दर्शन : एक विज्ञान दर्शन	2001	1	89
424.	डॉ. डी.आर. भण्डारी	अध्यात्म एवं विज्ञान : एक समन्वयात्मक अध्ययन	2001	1	98
425.	डॉ. रमेश चंद्र सिन्हा	भारतीय दर्शन, तकनीकी समाज एवं उत्तर– आधुनिक मूल्य	2001	1	104
426.	डॉ. आलोक टण्डन	उत्तर आधुनिकतावाद : आधुनिकता का विपक्ष या पुनर्लेखन?	2001	1	119
427.	श्री यशदेव शल्य	अखिल भारतीय दर्शन– परिषद् की स्थापना और उसके दो आरम्भिक वर्ष	2001	2	1
428.	डॉ. आर.के. चतुर्वेदी	भारतीय दर्शन शास्त्र और होम्योपैथी	2001	2	8
429.	राव रणबहादुर सिंह	भारतीय संस्कृति	2001	2	17
430.	डॉ. राजकुमारी सिन्हा	धार्मिक विश्वास की समस्या – एक चिंतन	2001	2	25
431.	डॉ. श्रीकान्त मिश्र	सांख्य दर्शन एवं शैव– सिद्धान्त दर्शन	2001	2	30

432.	डॉ. भरत कुमार तिवारी	संभोग से समाधि	2001	2	39
433.	डॉ. देवेन्द्रनाथ तिवारी	भारतीय भाषा–चिंतन में विश्लेषण एवं अनुवाद की समस्या	2001	2	44
434.	डॉ. आर.के सिंह	तर्क एवं ज्ञान मीमांसा	2001	2	55
435.	श्री कालीचरण पाण्डेय	उत्तर–आधुनिकतावाद	2001	2	72
436.	श्री ज्योति स्वरूप दुबे	आचार्य शंकर का रहस्यवाद	2001	2	82
437.	डॉ. डी.आर. भण्डारी	कर्त्तव्य–कर्मनिष्ठा ही योगसिद्धि–गीता–नीति विश्लेषण	2001	2	87
438.	प्रो. श्रीप्रकाश दुबे	दर्शनशास्त्र में पत्रकारिता – भारतीय एवं यूनानी परिप्रेक्ष्य में	2001	2	95
439.	डॉ. रीता कुमारी शर्मा	राधाकृष्णन् का धर्म–समन्वय दर्शन	2001	2	101
440.	डॉ. अरुण कुमार सिंह	विज्ञानवाद (योगाचार) एवम् प्रत्यभिज्ञा दर्शन के 'चित्' का तुलनात्मक विवेचन	2001	2	108
441.	कु. मीना मिश्रा	क्रीड़ा एवं योग का शरीर पर बाह्य एवं आन्तरिक प्रभाव	2001	2	121
442.	डॉ. आनन्द मिश्र	भारतीय दर्शन में प्रकाशवाद	2001	3	1
443.	नीलिमा सिन्हा	धर्मकीर्ति के दर्शन में प्रत्यक्ष का स्वरूप	2001	3	14
444.	डॉ. महेश सिंह	धर्म–परिवर्तन का स्वरूप और संभावना	2001	3	21
445.	सत्यदेव मिश्र	सांख्य दर्शन का निरीश्वरवाद	2001	3	30
446.	प्रमोद कुमार सिंह	आचार्य नागसेन एवं मिलिंदपन्ह	2001	3	35
447.	डॉ. राजेश्वर सिंह	माठरसम्त विवेकख्याति–विमर्श	2001	3	39
448.	डॉ. रामाज्ञा सिंह	ज्ञान के प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य का निर्धारणः सांख्य दर्शन के विशेष संदर्भ में	2001	3	42
449.	डॉ. आर.के. देसवाल	21वीं सदी की चुनौतियां एवं भारतीय दर्शन की प्रासंगिकता	2001	3	47
450.	डॉ. आर.के. सिंह	ज्ञानः एक दार्शनिक विवेचन	2001	3	53
451.	प्रीति कुमारी	कबीर और धर्म समन्वय	2001	3	61
452.	साधु श्रुतिप्रकाशदास	श्रीरामानुजीय विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में स्वीकृत जीवन्मुक्ति	2001	3	66
453.	डॉ. मुरलीमनोहर पाठक	ऋग्वेद की दार्शनिक पृष्ठभूमि तथा एकदेववाद	2001	3	74

454.	विष्णु दत्त पाण्डेय	काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि: हेगेल	2001	4	1
455.	डॉ. विभा मुकेश एवं डॉ. मुकेशचन्द्र डिमरी	सिजविक का बौद्धिक उपयोगितावाद	2001	4	11
456.	डॉ. रजनीश कुमार शुक्ल	रेने देकार्त का सौन्दर्यशास्त्र	2001	4	21
459.	डॉ. शुक्ला सिन्हा	परमहंस योगानन्द के दर्शन के कुछ प्रमुख आयाम	2001	4	25
460.	डॉ. रामानन्द पाण्डेय	अद्वैत वेदान्त में युक्ति अभिनय	2001	4	32
461.	डॉ. नागेन्द्र तिवारी	मीमांसादर्शन की उत्पत्ति एवं विकास	2001	4	39
462.	डॉ. नरेन्द्र सिंह	देवात्मा–दर्शन का वैशिष्ट्य	2001	4	43
463.	डॉ. हर्षवर्द्धन प्र. सिंह	तत्त्वमीमांसा की महत्ता एवं व्यावहारिक जीवन में इसकी भूमिका	2001	4	50
464.	डॉ. निर्मला कुमारी झा	अशुभ एवं ईश्वर– गान्धी एवं विनोबा की दृष्टि में	2001	4	56
465.	डॉ. जटाशंकर	21वीं शताब्दी की चुनौतियां और भारतीय दर्शन	2001	4	64
466.	डॉ. (श्रीमती) किरण झा	—''—	2001	4	68
467.	डॉ. जयप्रकाश ना. त्रिपाठी	विभिन्नदर्शनाभिमत मोक्षस्वरूप	2001	4	73
468.	कुमार अविनाश प्र. सिन्हा	क्या नैतिकता धर्म को अधिभूत करती है ?	2002	1	5
469.	डॉ. जटाशंकर	धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्	2002	1	11
470.	डॉ. राजकुमारी सिन्हा	तुलनात्मक धर्म एकादमी : उद्देश्य एवं महत्त्व	2002	1	17
471.	डॉ. विजय कान्त दुबे	बीसवीं सदी के दर्शन में तुलनात्मक दर्शन की सार्थकता	2002	1	23
472.	डॉ. अविनाश कु. श्रीवास्तव	इक्कसवीं शताब्दी में भारतीय दर्शन : प्रवृत्तियां और भविष्य	2002	1	32
473.	डॉ. सुधा चौधरी	आतंकवाद : पूँजीवादी दर्शन के अन्तर्विरोध की विकृति	2002	1	41
474.	प्रो. डी.आर. भण्डारी	अणुव्रत–दर्शन विश्लेषण	2002	1	49
475.	डॉ. राजेश्वर सिंह	युक्तिदीपिका का वैशिष्ट्य	2002	1	56
476.	डॉ. शैल कुमारी	भारतीय दार्शनिक परम्परा में ज्ञानमीमांसा के कुंजी–स्वर	2002	1	63
477.	हेमन्त नामदेव	'अर्थ' की अवधारणा और भारतीय दृष्टिकोण	2002	1	74
478.	डॉ. नागेन्द्र तिवारी	मीमांसा दर्शन में अर्थ–घटन के सिद्धान्त	2002	1	81

479.	डॉ. प्रियंवदा गौड़	—''—	2002	1	87
480.	डॉ. (सुश्री) निर्मल गर्ग	धर्म–तत्त्व चिन्तन : प्रमुख पहलू	2002	1	95
481.	डॉ. अशोक कुमार सिंह	युक्तियों की वैधता–अवैधता और सत्यता–सारणी की विधि	2002	1	106
482.	पूर्णेन्दु शेखर	मानव–व्यवहार विज्ञान के रूप में	2002	1	118
483.	डॉ. रजनीश कु. शुक्ल	वृत्ति, प्रमा तथा ज्ञान.....	2002	2	1
484.	शत्रुघ्न चतुर्वेदी	नागार्जुन का ज्ञानमीमांसीय संदेहवाद	2002	2	9
485.	डॉ. सोमनाथ नेने	भाट्टमीमांसा में प्रत्यक्ष की अवधारणा	2002	2	17
486.	विपिन कु. पाण्डेय	परप्रकाशवाद	2002	2	29
487.	जयन्त उपाध्याय	जयन्त भट्ट और सामग्री–प्रमाणवाद	2002	2	35
488.	रणजीत कु. तिवारी	भारतीय दर्शन में कथा स्वरूप विमर्श	2002	2	39
489.	डॉ. आनन्द मिश्र	भाट्ट मत में आत्मा एवं ज्ञानः कर्तृक्रियाकर्मफलवादी ज्ञानमीमांसा	2002	2	45
490.	डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा	साक्षित्वं द्वितीयासंगतेर्भवेत्	2002	2	55
491.	डॉ. शशी देवी सिंह	शांकरदर्शन में व्यवहार एवं परमार्थ	2002	2	63
492.	प्रो. सत्यदेव मिश्र	अद्वैत वेदान्त में प्राण का स्वरूप	2002	2	67
493.	डॉ. विजय शंकर द्विवेदी	अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म	2002	2	73
494.	डॉ. नागेन्द्र तिवारी	मीमांसा दर्शन में अर्थ–घटन के सिद्धान्त	2002	2	81
495.	डॉ. अविनाश कु. श्रीवास्तव	उत्तर–आधुनिकतावाद और दर्शन	2002	2	87
496.	महेश्वर प्रसाद चौरसिया	गणितीय तर्कशास्त्र एवं नव्य –न्याय में तार्किक सम्बन्ध का स्वरूप	2002	2	105
497.	डॉ. आर.के.सिंह	मूल्य–बोध और मूल्य–चिंतन का विकास	2002	3	5
498.	डॉ. सुरेन्द्र सिंह नेगी	धर्मः राष्ट्रवादी संस्कृति और धर्मनिरपेक्षता	2002	3	16
499.	डॉ. नीलाम्बरी मिश्रा	इच्छामृत्यु या यूथनेसिया	2002	3	24
500.	डॉ. बिमला भण्डारी	'अहिंसा'–एक विश्लेषणात्मक अध्ययन	2002	3	36

501.	डॉ. रोहताश कुमार	युद्ध और युद्ध के कारण	2002	3	48
502.	डॉ. नितिश दुबे	व्यक्ति स्वातंत्र्य एवं आतंकवाद	2002	3	61
503.	डॉ. प्रभास कुमार	आतंकवाद और परिवर्तन	2002	3	70
504.	प्रो. डी.आर. भण्डारी	मानव जीवन एवं पर्यावरण	2002	3	80
505.	श्री रामस्वरूप चौधरी	गुरु तत्त्व दर्शन	2002	3	84
506.	अल्पना जैन	द्रव्य की अवधारणा एवं वस्तु–स्वातंत्र्य(जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में)	2002	3	88
507.	डॉ. ललिता संचेती	जैन दर्शन का अनासक्तिभावः अपरिग्रह सूत्र	2002	3	99
508.	डॉ. सरोज कुमार वर्मा	आज की समस्यायें और ओशो का शिक्षा–दर्शन	2002	3	106
509.	डॉ. अशोक कु. सिंह	अस्तित्ववादी स्वतंत्रता	2002	3	114
510.	डॉ. अरविन्द विक्रम सिंह	प्लेटो के न्याय की संकल्पना और भारतीय दर्शन में धर्म	2002	3	122
511.	प्रो. एच.एन. मिश्र	नागार्जुन की शून्यता की अवधारणा एवं विश्वशान्ति	2002	4	1
512.	डॉ. प्रदीप कुमार खरे	मधुसूदन सरस्वती के अनुसार भक्ति का स्वरूप	2002	4	15
513.	डॉ. डी.आर. भण्डारी	भगवान महावीर का अनेकान्तवाद	2002	4	23
514.	चन्द्रशेखर तिवारी	जैन दर्शन में पर्याय की अवधारणा	2002	4	29
515.	डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा	तुलनात्मक दर्शनः विमर्शात्मक चेतना में पुनर्विमर्श	2002	4	35
516.	डॉ. विजयलक्ष्मी गुप्ता	मनु के राजधर्म की वर्तमान में प्रासंगिता	2002	4	43
517.	डॉ. भगवंत सिंह	व्यावसायिक नैतिकता की संभावनायें	2002	4	49
518.	डॉ. हेमलता श्रीवास्तव	भारतीय दर्शन में अपोहवाद	2002	4	53
519.	डॉ. आनन्द मिश्र	हाइडेगरकृत तत्त्वमीमांसा की समीक्षा	2002	4	57
520.	डॉ. रजनीश कु. शुक्ल	समकालीन सौन्दर्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र	2002	4	69
521.	डॉ. मंजू सिंह ठाकुर	राजनीति और धर्म	2002	4	75
522.	डॉ. गीतेश्वरी वर्मा	वैष्णवधर्म सामाजिक आदर्शों की रूपरेखा	2002	4	81
523.	डॉ. हरिशंकर उपाध्याय	ज्ञानमीमांसा : स्वरूप एवं समस्याएं	2002	4	89

524.	हरिदत्त त्रिपाठी	सांख्य एवं अद्वैत मत में जीव तत्त्ववाद	2002	4	97
525.	डॉ. नवीन कुमार	प्रो. आर.डी. रानाडे के धर्म दर्शन में रहस्यवाद	2003	1	1
526.	डॉ. आर.के सिंह	देवात्मवाद : एक दार्शनिक विमर्श	2003	1	7
527.	डॉ. विभा मुकेश	भारतीय परिप्रेक्ष्य में अनुप्रयुक्त दर्शन	2003	1	15
528.	डॉ. ललिता संचेती	गुरु तत्त्व और जीवन दर्शनः जैन दर्शन के संदर्भ में	2003	1	23
529.	डॉ. किरण झा	जीवन दर्शन और गुरुतत्त्व	2003	1	31
530.	डॉ. प्रकाश जोशी	जीवन में प्राकृत गुरु तत्त्व एवं प्रत्यक्ष गुरु का महत्व	2003	1	37
531.	डॉ. ए.के. पाण्डेय	गुरु तत्त्व की दार्शनिक अवधारणा	2003	1	43
532.	डॉ. संध्या मोघे	जीवन दर्शन और गुरुतत्त्व	2003	1	51
533.	डॉ. प्रतिमा पी. जोशी	जीवन दर्शन और गुरु तत्त्व	2003	1	59
534.	डॉ. एच.एस. उपाध्याय	क्या दर्शनशास्त्र विश्लेषण है?	2003	1	65
535.	डॉ. कमला पाण्डेय	आद्य शंकराचार्य और मण्डनमिश्र का ऐतिहासिक शास्त्रार्थ	2003	1	73
536.	प्रो. ई.आर. मठवाले	तुलनात्मक धर्मः लक्ष्य तक पहुंचने का मार्ग	2003	1	77
539.	प्रो. डी.आर. भण्डारी	भारतीय दार्शनिक एवं धार्मिक परम्पराओं में गुरु एवं शिष्य के सम्बन्धों की अवधारणा	2003	1	81
540.	राजेश कुमार चौरसिया	स्वतन्त्रता की अवधारणा	2003	1	85
541.	डॉ. विभा कुमारी सिंह	विभिन्न चिन्तन परम्परा में धर्म की अवधारणा एवं धर्म निरपेक्षता की आवश्यकता	2003	1	97
542.	डॉ. अवधेश कु. सिंह	चार्वाक कृत ईश्वर खण्डन का समीक्षात्मक अध्ययन	2003	1	105
543.	डॉ. अरविन्द विक्रम सिंह	विरोधाभासों की दार्शनिक चिन्तन में भूमिका	2003	2	1
544.	डॉ. मुरली मनोहर पाठक	वैदिक संहिताओं में प्रतिपादित नैतिक मूल्य	2003	2	7
545.	डॉ. प्रभास कुमार	अनुप्रयुक्त दर्शन	2003	2	21
546.	डॉ. बी.एन. ओझा	भारतीय दर्शन में नैतिकता की अवधारणा	2003	2	29
547.	डॉ. आलोक टण्डन	आधुनिकीकरण और स्व–अस्मिता : भारतीय सन्दर्भ में	2003	2	37

548.	डॉ. अखिलेश्वर प्र. दुबे	स्वामी नारायण एवं रामानुज के अनुसार भक्ति का स्वरूप एवं महत्व	2003	2	46
549.	डॉ. मुकेश चन्द्र डिमरी	वैशेषिक सूत्र एवं चरक संहिता–सुश्रुत संहिता का व्यावहारिक अनुशीलन	2003	2	53
550.	डॉ. गौरी चट्टोपाध्याय	अनुकरणीय दर्शन की सीमा	2003	2	61
551.	डॉ. राजनन्दन यादव	अनुप्रयुक्त दर्शन भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में	2003	2	67
552.	डॉ. गीतेश्वरी वर्मा	पाश्चात्य विश्लेषणात्मक दर्शन	2003	2	77
553.	डॉ. मृत्युंजय कुमार	पश्चात्य विश्लेषणात्मक दर्शन (विट्‌गेन्स्टाइन, एयर, राइल एवं ऑस्टिन के संदर्भ में)	2003	2	89
554.	डॉ. आशा बिंजोला	श्रीरामचरितमानस में भक्ति की अवधारणा	2003	2	105
555.	प्रो. गौरांग चरण नायक	भारतीय साहित्य में सौंदर्यानुभूति तथा सौंदर्य साधना	2003	3	1
556.	श्याम किशोर सिंह	जैन दर्शन में नैतिकता की सापेक्षता एवं निरपेक्षता का विचार	2003	3	11
557.	डॉ. अजीत कु. ठाकुर	सर्जनात्मक विकासवाद की भूमिका	2003	3	17
558.	डॉ. राजेन्द्र कु. सिंह	भारतीय संस्कृति में आचरण का स्वरूप	2003	3	23
559.	डॉ. वीणा झा	भारतीय दर्शन में पुरुषार्थ चतुष्टय	2003	3	33
560.	प्रताप निर्भय सिंह	जे. कृष्णमूर्ति का ईश्वर विचार	2003	3	37
561.	डॉ. पंकज कु. वर्मा	धर्मनिरपेक्षतावाद और भारतीय संदर्भ	2003	3	45
562.	डॉ. अरविन्द विक्रम सिंह	भारतीय धर्म एवं संस्कृति आज भी प्रासंगिक है	2003	3	51
563.	डॉ. रोहतास कु. सुथार	जीवनदर्शन और गुरुतत्त्व	2003	3	55
564.	पूर्णेन्दु शेखर	चार्वाक का बरगदः एक दार्शनिक चिंतन	2003	3	65
565.	श्रीमती सरिता कुमारी डॉ. अविनाश क. श्रीवास्तव	विज्ञान, दर्शन एवं दार्शनिक की भूमिका	2003	3	73
566.	डॉ. बलिराम शुक्ल	पुष्टिमार्ग और गुरुतत्त्व	2003	3	81
567.	डॉ. सोमनाथ नेने	मीमांसा का एकवाक्यता सिद्धान्त	2003	3	91

568.	मृत्युंजय ना. सिन्हा	भारतीय चिन्तन परम्परा में विज्ञान दर्शन	2003	3	99
569.	डॉ. दीनानाथ शुक्ल	गुरु की भारतीय अवधारणा	2003	3	107
570.	डॉ. भरत कु. तिवारी	ओशो शिक्षा दर्शन	2003	4	1
571.	डॉ. नरेन्द्र नाथ गुप्ता	पं. विद्यानिवास मिश्र	2003	4	5
572.	डॉ. निर्मल गर्ग	मानव क्लोनिंग : दार्शनिक अनुशीलन	2003	4	9
573.	शत्रुघ्न चतुर्वेदी	दार्शनिक चेतना की द्वन्द्वात्मक प्रकृति	2003	4	19
574.	डॉ. देवव्रत चौबे	न्याय–वैशेषिक दर्शन में मन का स्वरूप	2003	4	29
575.	विजय सिंह भाटी	मानवतावाद : एक समीक्षा	2003	4	35
576.	सुशिम दुबे	कौटिल्य अर्थशास्त्र का मूल्यपरक	2003	4	39
577.	डॉ. प्रवीण कु. शुक्ल	हिन्दू धर्मशास्त्र में स्वधर्म और...	2003	4	45
578.	बबलू वेदालंकार	भारतीय दर्शन में 'मोक्ष'	2003	4	55
579.	दिलीप कु. एस. चारण	उपनिषद् में गुरुतत्त्वचिंतन	2003	4	59
580.	डॉ. शंकरदयाल द्विवेदी	शाब्दबोध का स्वरूप	2003	4	69
581.	डॉ. नंदकिशोर पाण्डेय	विवेकानन्द के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप	2003	4	83
582.	डॉ. विभा मुकेश	वैशेषिक दर्शन में अनुमान प्रमाण	2003	4	89
583.	डॉ. आर.के सिंह	मानवेन्द्रनाथ राय के दर्शन में नैतिक मूल्य	2004	1	1
584.	कालीचरण पाण्डेय	विट्गेन्स्टाइन और धार्मिक अभिव्यक्ति	2004	1	9
585.	डॉ. अशोक कु. पाण्डेय	संगम दर्शन के आलोक में आहार्य ज्ञान की अवधारणा	2004	1	17
586.	विजेन्द्र सिंह भाटी	मार्क्सवाद द्वारा विरक्ति का उदय	2004	1	29
587.	डॉ. दीपनारायण यादव	पियाजे के जननिक ज्ञान–मीमांसा संबंधी विचार	2004	1	33
588.	डॉ. मृत्युंजय कुमार	बर्गसाँ के दर्शन में नैतिकता एवं धर्म की अवधारणा	2004	1	47
589.	डॉ. आलोक टण्डन	देवात्मा का नीतिदर्शन	2004	1	55
590.	डॉ. सुनन्दा सिंह	सन्त मेंहीं दास की रचनाओं में दार्शनिकता के तत्त्व	2004	1	63
591.	डॉ. विजयकान्त दुबे	सेश्वर वेदान्त में भक्ति	2004	1	71
592.	डॉ. श्रीकान्त पाण्डेय	मोक्ष सन्दर्भ एवं व्याकरण दर्शन	2004	1	79
593.	डॉ. रजनीश कु. शुक्ल	इन्द्रिय प्राप्यकारित्वाप्राप्यकारित्व	2004	1	87
594.	डॉ. शंकर दयाल द्विवेदी	इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व	2004	1	93

595.	डॉ. रीता कुमारी शर्मा	आचार्य शंकर के दर्शन का सामाजिक आधार	2004	1	101
596.	डॉ. हरिकान्त मिश्र	श्री रामभद्राचार्य जी का विशिष्टाद्वैत मत	2004	1	105
597.	डॉ. बी.पी. काले	क्या पाश्चात्य आधुनिक है?	2004	1	117
598.	डॉ. मुरलीमनोहर पाठक	ऋग्वेदीय ज्ञान मीमांसा	2004	2	1
599.	डॉ. प्रवीणकुमार शुक्ल	श्रीमद्भगवगद्गीता में चेतना	2004	2	7
600.	कृष्ण कुमार रोहिल	गांधी में सर्वधर्म समभाव	2004	2	13
601.	डॉ. अरविन्द विक्रम सिंह	दर्शन का स्वरुप	2004	2	17
602.	डॉ. ज्योतिस्वरूप दुबे	पं. गोपीनाथ कविराज	2004	2	29
603.	डॉ. मृगेन्द्र कुमार सिंह	धर्म, सम्प्रदाय एवं धर्म निरपेक्षता	2004	2	33
604.	डॉ. अनिल कुमार वर्मा	मानव केन्द्रित आचार शास्त्र	2004	2	39
605.	डॉ. आर.के. सिंह	प्रमा का स्वरूप	2004	2	43
606.	प्रो. रंजना कुमारी झा	धर्म– एक गत्यात्मक अवधारणा	2004	2	53
607.	मेहमूद हुसैन मंसूरी	औपनिषद् दर्शन का समन्वयवाद	2004	2	61
608.	रंजू कुमारी	नीतिशास्त्र के प्रमुख दायित्व	2004	2	75
609.	डॉ. सुधा चौधरी	भारतीय दर्शन में आत्मा	2004	2	81
610.	डॉ. त्रिलोक चन्द	योग और भारतीय दर्शन	2004	2	87
611.	डॉ. निरूपमा श्रीवास्तव	सांख्य दार्शनिकों का ईश्वर	2004	2	93
612.	डॉ. गौरी चट्टोपाध्याय	भारतीय संदर्भ में दार्शनिक चिन्तन	2004	2	99
613.	डॉ. राजबली	भारतीय नीति चिन्तन का स्वरूप	2004	2	113
614.	प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय	विकास की अवधारणा	2004	3	1
615.	पूर्णेन्दु शेखर	भारतीय सन्दर्भ में दार्शनिक चिंतन	2004	3	7
616.	डॉ. राजीव रंजन सिंह	––''––	2004	3	19
617.	डॉ. सुरेन्द्र गायधने	ईश्वर : एक गणितीय संप्रत्यय	2004	3	23
618.	सुशिम दुबे	विट्गेन्स्टाइन के चिन्तन में भाषा तथा दर्शन	2004	3	27
619.	डॉ. लक्ष्मीकान्त साहू	नेहरू का मानवतावाद	2004	3	37
620.	प्रो. पारसनाथ द्विवेदी	श्री स्वामीनारायण सेश्वरवेदान्त	2004	3	43
621.	डॉ. रमा पाण्डेय	गौड़ीय सम्प्रदाय में श्रीराधा तत्व की अवधारणा	2004	3	59
622.	अनिल कुमार सोनकर	आवश्यक सूत्र प्रतिपादित आचार मीमांसा	2004	3	71
623.	डॉ. महेश्वर मिश्र	उत्तर आधुनिक संदर्भ में अपोहवाद	2004	3	85
624.	डॉ. गायत्री शर्मा	अमरत्त्व का विचार	2004	3	91
625.	डॉ. शिवदीपक शर्मा	कौल मार्गः दार्शनिक अवधारणा	2004	3	103
626.	मनीष सिंह भाटी	सार्त्र का अनीश्वरवाद	2004	3	111
627.	कु. नीवा भण्डारी	पुरुषार्थ	2004	3	115

628.	डॉ. देवकीनन्दन द्विवेदी	चेतना की भौतिकवादी व्याख्यायें	2004	4	1
629.	डॉ. बी.एन. ओझा	भारतीय समाज में हिन्दू धर्म एवं वर्तमान संदर्भ में इसकी प्रासंगिकता	2004	4	23
330.	डॉ. उत्तम कु. शुक्ल	रघुनाथ शिरोमणि की द्रव्यविषयक अवधारणा	2004	4	37
630.	डॉ. नीलिमा सिन्हा	एकावयवी न्याय की बौद्ध परंपरा	2004	4	41
631.	प्रो. डी.आर. भण्डारी	कर्मयोग और संन्यास	2004	4	61
632.	अम्बिकादत्त शर्मा	क्षणिकवाद और मिथ्याकारवाद का तत्त्वमीमांसीय समायोजन	2004	4	69
633.	डॉ. नागेन्द्र तिवारी	मीमांसा दर्शन में शब्द नित्यत्व विचार	2004	4	77
634.	डॉ. शीतल जैन	जीवन दर्शन और गुरुतत्त्व	2004	4	81
635.	गोस्वामी श्याममनोहर	श्रीस्वामिनारायण मतीय वेदान्तसिद्धान्त और भक्ति–साधना की विकसन प्रक्रिया	2004	4	87
636.	दिलीप कु. एस. चारण	बाह्यार्थवाद की दृष्टि से इन्द्रियप्राप्यकारित्व	2004	4	105
637.	डॉ. मुकेश चन्द्र डिमरी	चरकसंहिता–सुश्रुतसंहिता के अनुमान प्रमाण	2004	4	117
638.	डॉ. राजेश्वर प्र. यादव	भारतीय दर्शन में ईश्वर की अवधारणा	2005	1–4	31
639.	प्रो. एस.पी. दुबे	भारतीय दर्शन के पांच दशक	2005	1–4	49
640.	डॉ. जयदेव वेदालंकार	सांख्य एवं न्याय वैशेषिक दर्शन में आत्म तत्व	2005	1–4	59
641.	डॉ. सरोज कुमार वर्मा	अहिंसा, संप्रभुता और सुरक्षा	2005	1–4	67
642.	डॉ. संजय कु. शुक्ल	भारतीय दर्शन के भावी स्वरूप का विश्लेषण	2005	1–4	75
643.	अनिल कुमार तिवारी	जैनदर्शन एवं अहिंसा	2005	1–4	83
644.	डॉ. शैल कुमारी	न्याय–वैशेषिक और चार्वाक दर्शन की ज्ञानमीमांसा	2005	1–4	89
645.	डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र	ब्रह्मवाद	2005	1–4	103
646.	अनिल कुमार तिवारी	बौद्ध दर्शन में वैयक्तिक अनन्यता की अवधारणा	2005	1–4	117
647.	डॉ. ज्योति कुमारी सिन्हा	जी.ई. मूर द्वारा सहज ज्ञान का समर्थन	2005	1–4	127
648.	डॉ. राजेश्वर प्र. यादव	मोक्षः ''प्राप्तस्य प्राप्तिः''	2005	1–4	135
649.	डॉ. राजेश्वर सिंह	हिन्दू विचारधारा एवं विश्व शान्ति	2005	1–4	143

650.	डॉ. किस्मत कु. सिंह	कला : भारतीय कला का आध्यात्मिक दृष्टिकोण	2005	1–4	151
651.	गार्गी पाण्डेय	अद्वैत की चार प्रक्रियायें / वाद	2005	1–4	155
652.	मुकेश कुमार चौरसिया	भारतीय दर्शन में ईश्वर की अवधारणा	2005	1–4	163
653.	रणधीर कुमार सिंह	—"—	2005	1–4	167
654.	विशाल भारद्वाज	—"—	2005	1–4	171
655.	कु. दीपाली जलौन्हा	—"—	2005	1–4	175
656.	डॉ. सुधा चौधरी	भारतीय दर्शन का भावी स्वरूप	2005	1–4	183
657.	डॉ. दीनानाथ शुक्ल	अद्वैत–वेदान्त में अध्यास–विमर्श	2005	1–4	189
658.	डॉ. दीनानाथ शुक्ल	औपनिषदिक संस्कृति और आधुनिकता	2005	1–4	197
659.	सरिता शुक्ला	चित्सुखाचार्य के दर्शन में अविद्या	2005	1–4	203
660.	डॉ. शिव भानु सिंह	न्याय दर्शन में निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्ष	2005	1–4	209
661.	डॉ. साधना वोरा	इक्कीसवीं सदी में गांधी विचार की प्रासंगिकता	2005	1–4	215
662.	डॉ. ज्ञानंजय द्विवेदी	भारतीय दर्शन का भावी स्वरूप	2005	1–4	219
663.	डॉ. आर.के. सिंह	शब्दार्थ / वाक्यार्थबोध	2005	1–4	223
664.	डॉ. धर्म जंग	भारतीय चिन्तन दृष्टि में पारिस्थितिकी चेतना के तत्व	2005	1–4	231
665.	डॉ. विपिन कु. पाण्डेय	लक्षण सिद्धान्त	2005	1–4	239
666.	प्रो. आशा मुखर्जी	काण्ट एवं के.सी. भट्टाचार्य	2005	1–4	245
667.	नवीन कुमार	धर्म के लिए ईश्वर की अनिवार्यता	2005	1–4	255
668.	सुश्री दीपा पांडे	भारतीय दर्शन का लोकोपयोगी स्वरूप, नैतिकता और युगबोध	2005	1–4	267
669.	प्रो. गायत्री सिन्हा	रवीन्द्रनाथ टैगोर का कला दर्शन	2005	1–4	273
670.	डॉ. त्रिलोक चन्द	महात्मा गांधी और अहिंसा	2005	1–4	285
671.	प्रो. मृत्युंजय ना. सिन्हा	संस्कृति एवं सांस्कृतिक प्रगति	2005	1–4	291
672.	डॉ. राजीव रंजन सिंह	रस–ब्रह्म	2005	1–4	297
673.	डॉ. गीता मेहता	महात्मा गांधी के मतानुसार जीवन के नैतिक मूल्य	2005	1–4	301
674.	डॉ. ज्ञानंजय द्विवेदी	आभास की आगमिक अवधारणा	2005	1–4	315
675.	बी.एन. ओझा	"गांधी – एक सम्पूर्ण क्रांति"	2005	1–4	323
676.	डॉ. शिव भानु सिंह	इच्छामृत्यु : एक नैतिक विश्लेषण	2005	1–4	337
677.	मनोज कुमार तिवारी	योगवासिष्ठ में पुरुषार्थ	2005	1–4	347
678.	डॉ. मृत्युंजय कुमार	वनस्पति जगत्	2005	1–4	361

679.	डॉ. आलोक टण्डन	'हिंद स्वराज' का पुनर्पाठ	2005	1–4	367
680.	डॉ. विजय कान्त दुबे	श्री अरविन्द के विकासवाद में संपोष्यता	2005	1–4	377
681.	डॉ. प्रमोद कुमार सिंह	योगाचार विज्ञानवाद एवं काश्मीर शैव दर्शन	2005	1–4	387
682.	भट्ट प्रियकांत प्रद्युम्न	भारतीय दर्शन में 'अभाव'	2005	1–4	395
683.	डॉ. (कु.) गायत्री शर्मा	विकास की गति एवं मानव स्वरूप	2005	1–4	403
684.	डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा	सारूप्यवाद की प्रमाणमीमांसीय दृष्टि एवं साधनापरक मूल्य	2005	1–4	409
685.	डॉ. हरिकान्त मिश्र	अध्यास और ख्यातिवाद का ज्ञानमीमांसीय स्वरूप	2005	1–4	419
686.	डॉ. दुर्गादत्त पाण्डेय	धार्मिक प्रतीकों की सार्थकता	2005	1–4	427
687.	डॉ. कमला कुमारी	ऐहलौकिकवाद के परिप्रेक्ष्य में स्वामिनारायण धर्म	2005	1–4	435
688.	डॉ. जवाहरलाल निगम	महर्षि दयानन्द की ''ईश्वर'' सम्बन्धी अवधरणा	2005	1–4	445
689.	नीवा भण्डारी	रवीन्द्रनाथ टैगोर के दर्शन में मानवतावाद	2005	1–4	452
690.	डॉ. राजेश्वर सिंह	सांख्य दृष्टि में कर्मकाण्डीय प्रत्याख्यान	2005	1–4	456
691.	डॉ. रोहतास कुमार	ऋण एवं पंचमहायज्ञ	2005	1–4	465
692.	डॉ. रामजी सिंह	अहिंसा बनाम संप्रभुता और सुरक्षा	2005	1–4	475
693.	डॉ. अजीत कु. ठाकुर	वर्तमान युग में गांधी जी का ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त	2005	1–4	486
694.	प्रो. निर्मला कुमारी झा	जैन दर्शन की नैतिक अवधारणाएं	2005	1–4	493
695.	डॉ. राजकुमारी सिन्हा	सम्पूर्ण क्रांतिः दिशा एवं दशा	2005	1–4	505

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

स्थापित १९५४

अध्यात्म विद्या विद्यानाम्

विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर 09303282494